इकाई 1- जैनमत का इतिहास

1.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन के तृतीय खण्ड की इस प्रथम इकाई में आपकी आवश्यकता को ध्यान में रखकर जैनमत का इतिहास प्रस्तुत किया जा रहा है। इस क्रम में यथासम्भव प्रयास किया गया है कि अपेक्षित सारी सूचनाए प्रस्तुत की जाए। एतदर्थ उनके काल का विभाजन, ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार, दार्शनिक आदि का सम्यक् विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आशा है आप इससे अवश्य ही लाभान्वित होंगे। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम इस पाठ के विचारणीय बिन्दु यहाँ दिये जा रहे हैं।

1.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- बता सकेंगे कि परम्परा प्रचलित विचारधारा के विरोधी जैन दर्शन की प्राचीन परम्परा क्या रही है?
- समझ सकेंगे कि सामान्यतया जैन दर्शन के काल का निर्धारण किस प्रकार किया गया है तथा ये काल व्यवस्था किन किन महत्वपूर्ण विषयों को लक्ष्य बनाती हैं?
- यह भी जानकारी मिल पाएगी कि जैन विचारधारा के प्रधान ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार कौन हैं तथा जैन दर्शन को उनका योगदान क्या है?

1.3 जैन मत का परिचय

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रवर्तन, जो सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्ध प्रभृति नामों से अभिहित हुआ, विभिन्न वैचारिक क्रान्ति की परिणति है। उनमें से प्रत्येक की मौलिक विचारधारा है। यही विचारधारा इन्हें पारस्परिक चिन्तन से पृथक् करता है। जैन दर्शन इसका अपवाद नहीं है। वस्तुतः जैन दर्शन चिन्तन अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण न केवल अशेष भारत प्रत्युत समग्र विश्व में प्रसार को प्राप्त हुआ।

भारतीय दर्शन के इतिहास में जैनदर्शन का विशेष महत्त्व है। चार्वाक और बौद्ध दर्शन के साथ ही, भारतीय विचारधारा की नास्तिक परम्परा में परिगणित यह तृतीय दार्शनिक सम्प्रदाय है जिन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड का प्रबल विरोध किया। जैन दर्शन ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध दर्शन की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। ई0 पू0 छठी शताब्दी में वैदिक धर्म और यज्ञ यागादि के प्रतिक्रियास्वरूप दो धार्मिक क्रान्तियों का सूत्रपात हुआ जिनका नेतृत्व गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने किया। बौद्ध

दार्शनिक चिन्तन की ही भॉंति जैन दार्शनिक प्रणाली भी मूलतः एक धार्मिक विश्वास से सम्बद्ध है। जैन मत का मुख्य उद्देश्य अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न मतों का समन्वय करना है। दर्शन चिन्तन में यह अनेकान्त सापेक्षतावादी बहुत्ववाद के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

1.3.1 प्रारम्भिक इतिहास –

महावीर स्वामी भारतीय दर्शन की जैन परम्परा के सूत्रधार हैं। उल्लेखनीय है कि महावीर स्वामी जैन धर्म दर्शन के प्रवर्तक नहीं थे। वे इस दर्शन की परम्परा में आने वाले चौबीसवें तीर्थंकर थे। इस धर्म के तीर्थंकरों में प्रथम नाम ऋषभदेव का प्राप्त होता है तथा तेईसवॉं नाम पार्श्वनाथ का। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का कालनिर्धारण कठिन है। यह कहना भी कठिन है कि प्रारम्भिक बाईस तीर्थंकर का काल क्या रहा होगा। किन्तु तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ निस्सन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति थे तथा वे आठवीं या नवीं शताब्दी ई0पूर्व में हुए थे। इन्होंने ही पंच महाव्रत में एक अपरिग्रह के मूलभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। बाद में भगवान् महावीर ने इसमें ब्रह्मचर्य को जोड़ा। अन्तिम व चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर छठी शताब्दी ई0पू0 में हुए थे तथा ये बुद्ध के समकालीन थे।

जैन दर्शन अथ वा धर्म में प्राप्त होने वाले 'जैन' शब्द का उöव 'जिन' शब्द से हुआ है। जो अपने को अर्थात् अपनी इन्द्रियों को जीतता है, अपने वश में कर लेता है, अथ वा संयमित कर लेता है, वह 'जिन' है। जिन कोई ईश्वरीय अवतार नहीं है प्रत्युत जिसने अरिषड्वर्ग अर्थात् काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह, माया आदि को सम्पूर्ण रूप में जीत लिया हो वही जिन कहलाता है। इसी 'जिन' के अनुयायी 'जैन' कहलाते हैं। जिन शब्द सामान्यतः महावीर के लिये प्रयुक्त होता है, जो इस धर्म के महत्तम प्रवक्ता थे।

ध्यातव्य है कि जैन धर्मशास्त्र के इतिहास में महावीरस्वामी को कई नामों से जाना जाता है। ये नाम उनके व्यवहार व आचरण को परिभाषित करने के लिये विकसित हुए। बौद्ध निकाय में उन्हें 'निगण्ठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) कहा गया है। रागद्वेषादि विजय के कारण महावीर और वीतराग हैं।

ठस प्रकार जैन दर्शन जिन तीर्थंकरों के द्वारा प्रवर्तित दर्शन है। इनके अनुसार ये तीर्थंकर ही अर्हत् हैं। इसलिये ये अर्हत् इनके ईश्वर माने जाते हैं। अन्यत्र उल्लेख भी प्राप्त होता है कि-

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।

यथास्थितार्थवादी च देवाऽर्हन् परमेष्वरः।।

इसी आधार पर जैन को आर्हत तथा जैन दर्शन को आर्हत दर्शन भी कहा जाता है।

अन्य भारतीय दर्शन की तरह ही जैन दर्शन चिन्तन की समृद्ध परम्परा रही है। इसके प्रवर्तक ऋषभदेव थे जिन्हें वैदिक काल का माना जाता है। किन्तु इस चिन्तन को सर्वथा दार्शनिक रूप प्रदान करने वाले भगवान् महावीर थे। जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार जैन दर्शन की परम्परा अनादिकाल से प्रवाहित होती चली आ रही है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त जैनधर्म एवं दर्शन का पूर्ण विकास हुआ है। जो लोग जैन दर्शन को सर्वप्राचीन नहीं मानते उन्हें कम से कम इसे उतना तो मानना ही होगा जितना प्राचीन अन्य भारतीय दर्शन है।

महावीर स्वामी के अनन्तर कई आचार्य हुए हैं जिन्होंने जैन दर्शन को नूतन दृष्टि दी है। उमास्वाति, कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दि, अनन्तवीर्य, यशोविजय वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र, मल्लिषेणादि आचार्यों ने इस मत के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

जैनदर्शन में दो सम्प्रदायों का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा माना जाता है कि यह विभाजन ईसा की पहली शताब्दी में ही हो गया था। ये दोनों सम्प्रदाय हैं- श्वेताम्बर और दिगम्बर। यद्यपि जैनमत में कतिपय बिन्दुओं का प्रारम्भ से ही विवाद था, किन्तु महावीर स्वामी की मृत्यु के बाद भद्रबाहु तथा स्थूलभद्र के मध्य विवाद के कारण ही जैन धर्म दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभाजित हो गया। भद्रबाहु के अनुयायी दिगम्बर कहलाये तथा स्थूलभद्र के अनुयायी ष्वेताम्बर।

1.3.2 श्वेताम्बर- यहॉं श्वेताम्बर का अर्थ है श्वेत वस्त्रधारी तथा दिगम्बर का अर्थ है निर्वस्त्र अथ वा आकाश को ही वस्त्र मानने वाला। इन दोनों सम्प्रदायों का अन्तर मताग्रह का उतना नहीं था जितना आनुष्ठानिक क्रियाकलापों का। दूसरे शब्दों में, जैनधर्म के दोनों सम्प्रदायों में विवाद दार्शनिक सिद्धान्तों पर कम नैतिक सिद्धान्तों पर अधिक था। जहॉं तक आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, उनमें सामान्यतः सहमति है।

1.3.3 दिगम्बर –

दिगम्बर आचरण पालन में अधिक कठोर थे, श्वेताम्बर कुछ उदार थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार मूल आगम ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं, 'केवल ज्ञान' प्राप्त करने पर सिद्ध पुरुष को भोजन की आवश्यकता नहीं होती, जो साधु अपने पास कुछ भी सम्पत्ति, जिसमें वस्त्र धारण भी आ जाता है, रखते हैं, उन्हें मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता एवं स्त्रियॉं मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हैं। ये महावीर को भी नग्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस मत के अनुयायी महावीर को अविवाहित तथा आजन्म ब्रह्मचारी मानते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्त्रियॉं भी मोक्ष की अधिकारिणी हैं। इनके अपने आगम ग्रन्थ हैं तथा ये महावीर को विवाहित मानते हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन धर्म दर्शन के प्रवर्तक थे

(क) महावीर स्वामी (ख) पार्श्वनाथ

(ग) ऋषभदेव (घ) भगवान् बुद्ध

2. जैन दर्शन में जिन का अर्थ है

(घ) जीवन को जीतने वाला (ख) महावीर को जीतने वाला

(ग) प्राण को जीतने वाला (घ) इन्द्रिय को जीतने वाला

3. स्थूलभद्र के अनुयायी क्या कहलाये-

(क) श्वेताम्बर (ख) महावीर

(ग) दिगम्बर (घ) जैन

4. स्त्रियॉं मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हैं, ऐसा मानना है-

(क) श्वेताम्बर का (ख) महावीर का

(ग) दिगम्बर का (घ) स्थूलभद्र

5. महावीर को 'निगण्ठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) कहा गया है

(क) आगम में (ख) बौद्ध निकाय में

(ग) तत्वार्थसूत्र में (घ) भगवती सूत्र में

1.4 जैन साहित्य एवं उनके काल

जैन साहित्य के अनुसार आरंभ में दो ही प्रकार के पवित्र ग्रन्थ थे- चौदह पूर्व तथा ग्यारह अंग। इनमें से प्रथम प्रकार के सभी ग्रन्थ अंततः विलुप्त हो गये। अंग जो बचे रहे वे ही जैनधर्म के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनको भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले ही प्रामाणिक मानते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय वालों की मान्यता है कि ये भी नष्ट हो गये थे और उनके नाम से जो अब चलते हैं, वे मिथ्या हैं।

अस्तु, जैन दर्शन के समग्र प्राप्त साहित्य को ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से चार कालों में विभक्त किया जा सकता है -

(1) आगम काल (वि. छठी शताब्दी तक)

(2) अनेकान्त स्थापनकाल (वि. तीसरी से आठवीं तक)

(3) प्रमाण व्यवस्थाकाल (आठवीं से सत्रहवीं तक)

(4) नवीन न्यायकाल (अठारहवीं से अद्यपर्यन्त)

ध्यातव्य है कि पूर्वकाल में उत्तरकाल के विचार बीज वर्तमान है तथा पल्लवन की दृष्टि से उक्त काल को यहॉ समझा जाना चाहिए।

1.4.1. आगम काल –

इस युग के अन्तर्गत जैन दर्शन के दोनों सम्प्रदायों के आगम साहित्य आते हैं। जैन साहित्य दो भागों में विभक्त है- आगम एवं आगमेतर। साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है ऐसा माना जाता है कि आगमों की विषय वस्तु चौबीसवें तीर्थंकर महावीर की वाणी है वस्तुतः ये आगम ग्रन्थ जैन परम्परा में वेद की तरह ही मान्य है। ये आगम साहित्य श्वेताम्बर और दिगम्बर दृष्टि से पृथक् पृथक् हैं। श्वेताम्बर के अनुसार साधारणतः पैंतालिस ग्रन्थ हैं। इनमें दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों में भगवती सूत्र, सूत्रकृतांग, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, नन्दी, स्थानांग, समवायांग, अनुयोगद्वार आदि हैं। आचार से सम्बन्धित ग्रन्थ आचारांग, दशवैकालिक, उपासकदशा, आवश्यक आदि हैं। इन आगम ग्रन्थों पर कई टीकाएें लिखी गयी हैं।

दिगम्बरों के अनुसार प्रमुख आगम ग्रन्थ षट्खण्डागम, कषायपाहुड़, महाबन्ध, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसार, समयसार, नियमसार आदि हैं। इनमें ज्ञान, कर्म आदि का अत्यन्त गम्भीरता से विश्लेषण किया गया है।

वस्तुतः जैनदर्शन के मुख्य स्तम्भों के न केवल बीज ही अपि तु विवेचन भी इन आगमों से ही मिलते हैं।

1.4.2. अनेकान्त स्थापनकाल –

यह काल जैन दार्शनिक विचारधारा की प्रारम्भिक शृंखला है। इसी काल में नय, सप्तभंगी, स्याद्वाद आदि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ। इस काल के प्रसिद्ध व प्रमुख दार्शनिक हैं सिद्धसेन दिवाकर एवं समन्तभद्र। इस काल के अन्य दार्शनिकों मल्लवादी, सिंहगणि, पात्रकेसरी, श्रीदत्त आदि उल्लेख्य हैं। इस काल में सैद्धान्तिक एवं आगमिक परिभाषाओं तथा शब्दों की दार्शनिक विवेचन का महान् कार्य हुआ। साथ ही, सिद्धसेन दिवाकर एवं समन्तभद्र ने परमत के प्रहार से बचाने के लिये तथा अपने वाद

को और अधिक दृढ़ करने के महत्त्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ किया। सिद्धसेन के सन्मतितर्क एवं न्यायावतार में नय, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, प्रमाण, ज्ञान आदि की समुचित व्याख्या है। समन्तभद्र के ग्रन्थ आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन आदि में भी जैन सिद्धान्तों का सम्यक् प्रतिपादन हुआ है।

1.4.3 प्रमाणशास्त्र व्यवस्था काल

यही वह काल है जिसमें जैन दार्शनिक विचारधारा का बीज वपन हुआ। इसी काल में तर्क, प्रमाण,

प्रमेय आदि विषयों पर सविस्तर परिचर्चा हुई है। इस काल के प्रमुख दार्शनिक हरिभद्र, जिनभद्र एवं अकलंक है। इनमें हरिभद्र ने अनेकान्त, अकलंक ने प्रमाणशास्त्र तथा जिनभद्रगणि ने अनेकान्त एवं नय के विवेचन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन्होंने उस समय के प्रचलित सभी वादों का नय दृष्टि से जैनदर्शन में समन्वय किया तथा सभी वादियों में परस्पर विचार सहिष्णुता तथा समता लाने का प्रयत्न किया। अनेकान्तविजयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय आदि इस काल के प्रमुख ग्रन्थ हैं। अन्य प्रमुख दार्शनिकों में विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र आदि प्रमुख हैं।

1.4.4. नवीन न्याय काल –

न्याय दर्शन की ही भॉति जैन दर्शन परम्परा में नव्यन्याय की नूतन विधा का विस्तार देखा जा सकता है। इस काल में जैन दर्शन चिन्तन क्षेत्र में नूतन चिन्तन एवं नयी पद्धति से विचार विमर्श हुआ। इस काल के प्रमुख दार्शनिक यशोविजय हैं। उन्होंने नव्यन्याय की परिष्कृत शैली में उस युग तक के विचारों का समन्वय तथा उन्हें नव्य ढंग से परिष्कृत करने का आद्य और महान् प्रयत्न किया। इस काल के प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थों में अष्टसाहस्रीविवरण, अनेकान्तव्यवस्था, जैनतर्कभाषा, सप्तभंगतरंगिणी, नयोपदेश, भाषारहस्य आदि उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः न्याय दर्शन के द्वारा प्रवर्तित इस नूतन चिन्तन शैली को भी इस दर्शन ने उसी रूप में अपनाकर जैन की तर्कपरम्परा को अत्यन्त समृदध किया।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन धर्म के प्राप्त प्राचीनतम धर्म ग्रन्थ हैं-

   (क) पूर्व (ख) आगम

   (ग) अंग (घ) सूत्र

2. साहित्य का प्राचीनतम भाग कहलाता है

(क) पूर्व (ख) अंग

(ग) सूत्र (घ) आगम

3. किस काल में नय, सप्तभंगी, स्याद्वाद आदि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ-

(क) आगम काल (ख) प्रमाण व्यवस्थाकाल

(ग) अनेकान्त स्थापनकाल (घ) नवीन न्यायकाल

4. प्रमुख दार्शनिक यशोविजय किस काल में हुए

(क) आगम काल (ख) प्रमाण व्यवस्थाकाल

(ग) अनेकान्त स्थापनकाल (घ) नवीन न्यायकाल

5. षड्दर्शनसमुच्चय की रचना किस काल में हुई?

(क) आगम काल (ख) प्रमाण व्यवस्थाकाल

(ग) अनेकान्त स्थापनकाल (घ) नवीन न्यायकाल

इन साहित्यों का कालानुसार संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1.5 जैन दार्शनिक ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

जैन दर्शन के सम्प्रदाय की तरह ही इसके ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों का भी वर्गीकरण दो भागों में यहॉं किया जा रहा है।

1.5.1 श्वेताम्बर ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

ग्रन्थकार	काल	ग्रन्थ
उमास्वाति	वि0 तीसरी शताब्दी	तत्त्वार्थसूत्र
सिद्धसेन दिवाकर	वि0 पॉचवीं शताब्दी	न्यायावतारद्वात्रिंशिकाएंसन्मतितर्कप्रकरण
मल्लवादि	वि0 छठी शताब्दी	नयचक्रसन्मतितर्कटीका

हरिभद्र वि0आठवींशताब्दी
अनेकान्तवादप्रवेशषड्दर्शनसमुच्चयशास्त्रवार्तासमुच्चन्यायप्रवेशटीका

धर्मसंग्रहणी

वादिदेवसूरि	वि0 बारहवीं शताब्दी	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार
		स्याद्वादरत्नाकर
हेमचन्द्र	वि0 बारहवीं शती	अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका
रत्नप्रभसूरि	वि0 तेरहवीं शताब्दी	स्याद्वादरत्नावतारिका
देवप्रभ	वि0 तेरहवीं शताब्दी	प्रमाणप्रकाश
नरचन्द्रसूरि	वि0 तेरहवीं शताब्दी	न्यायकन्दलीटीका
मल्लिषेण	वि0 चौदहवीं शताब्दी	स्याद्वादमंजरी
गुणरत्न	वि0 पन्द्रहवीं शताब्दी	तर्करहस्यदीपिका
यशोविजय	वि0 सत्रहवीं शताब्दी	अष्टसहस्रीविवरण

3.1.4.2 दिगम्बर ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

उमास्वाति	वि0 तीसरी शताब्दी	तत्त्वार्थसूत्र
समन्तभद्र	वि0 चौथी-पॉचवीं शताब्दी	आप्तमीमांसा
सिद्धसेन दिवाकर	वि0चौथी-पॉचवीं शताब्दी	द्वात्रिंशिकाएंसन्मतितर्कप्रकरण
देवनन्दि	वि0 चौथी-पॉचवीं शताब्दी	सारसंग्रह
श्रीदत्त	वि0 छठी शताब्दी	जल्पनिर्णय
सुमति	वि0 छठी शताब्दी	सन्मतितर्कटीका
		सुमतिसप्तक
अकलंकदेव	वि0 सातवीं शताब्दी	लघीयस्त्रयी

		न्यायविनिश्चय
		प्रमाणमीमांसा
		अष्टशती
		सिद्धविनिश्चय
		तत्वार्थराजवार्तिक
कुमारनन्दि	वि0 आठवीं शताब्दी	वादन्याय
अनन्तवीर्य	वि0 नवीं शताब्दी	सिद्धिविनिश्चयटीका
विद्यानन्दी		अष्टसाहस्री
		जैनश्लोकवार्तिक
आप्तपरीक्षा		
प्रमाणपरीक्षा		
पत्रपरीक्षा अनन्तकीर्ति	वि0 दसवीं शताब्दी बृहत्सर्वज्ञसिद्धिलघुसर्वज्ञसिद्धि	
देवसेन	990 वी0	आलापपद्धति
वसुनन्दि	वि0 दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी	आप्तमीमांसावृत्ति
माणिक्यनन्दि	वि0 ग्यारहवीं शताब्दी	परीक्षामुख
वादिराजसूरि	वि0 ग्यारहवीं शताब्दी	न्यायविनिश्चयविवरण
		प्रमाणनिर्णय
प्रभाचन्द्र	वि0 ग्यारहवीं शताब्दी	प्रमेयकमलमार्तण्ड
		न्यायकुमुदचन्द्र
अनन्तवीर्य	वि0 बारहवीं शताब्दी	प्रमेयरत्नमाला

3.1.5 कुछ प्रसिद्ध दार्शनिकों का संक्षिप्त परिचय

यद्यपि अग्रांकित आचार्यों का प्रसंगवश उल्लेख पूर्व में कई बार आ चुका है पुनरपि यहॉ उन प्रसिद्ध दार्शनिकों का क्रमशः उनका परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

कुन्दकुन्दाचार्य

ये जैन दर्शन के अति प्राचीन आचार्य थे। इनकी गणना साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों में होती है। मल्लिषेणप्रशस्ति में अंकित प्राचीन आचार्यों की नामावलि में इनका नाम सर्वप्रथम है। इस दृष्टि से इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी प्रतीत होता है। ये दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें नियमसार, पंचास्तिकायसार, समयसार तथा प्रवचनसार प्रमुख हैं। पुनरपि इनकी रचनाओं के विषय में परम्परागत कथन यह र्पाप्त होता है कि उन्होंने चौरासी पाहुड़ ग्रन्थों की रचना की थी। इनकी सारी रचनाए प्राकृत में है। ये तत्त्वों की पूर्णरूपेण व्याख्या कर पाने में सक्षम हैं।

भद्रबाहु- ये जैन दर्शन के प्रारम्भिक ग्रन्थकार हैं। इनका समय निर्धारित नहीं है। इन्हें अनेक धर्मग्रन्थों का टीकाकार माना जाता है। इनमें से दशवैकालिकनिर्युक्ति नामक टीका में वे तर्कशास्त्र की कतिपय शाखाओं का विवेचन करते हैं। उन्होंने दस वाक्यों वाली न्यायिकी रचना की तथा उन्हें सुविख्यात जैनसिद्धान्त का मूल प्रवर्तक माना जाता है।

उमास्वाति

ये मगध के देश के रहने वाले थे। कुछ विद्वान् उनका काल 135-219 ई0 मानते हैं तो कुछ अन्य 01-85 ई0। ये उमास्वाति तथा उमास्वामिन् दोनों नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने 'तत्त्वार्थसूत्र' अथ वा 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसे जैनियों का अत्यन्त पवित्र व धार्मिक ग्रन्थ माना जाता है। संस्कृत भाषा में ग्रन्थों की रचना करने वाले प्रथम जैन विद्वान् थे। जैन दर्शन के व्यवस्थित प्रतिपादन का प्रमुख स्रोत उक्त ग्रन्थ को ही माना जाता है। उक्त रचना में लगभग तीन सौ पचास सूत्र हैं तथा यह दस अध्यायों में विभक्त है। इस पर अनेक जैन विद्वानों ने भाष्य लिखे हैं। जैन दर्शन की सभी परवर्ती व्याख्याएॅ इसी पर आधारित हैं। यद्यपि यह मूलतः दर्शन का ग्रन्थ है तथापि प्राचीन भारतीय चिन्तन के इतिहास के सामान्य अध्ययन के लिये भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें मनोविज्ञान, धर्ममीमांसा, खगोलशास्त्र, भौतिकी, रसायन एवं अन्य विषयों पर भी जैन दृष्टिकोण से विचार किया गया है।

समन्तभद्र

ये दक्षिण भारत के दिगम्बर सम्प्रदाय के जैनाचार्य थे। ये उमास्वाति की उपरोक्त रचना के टीकाकार के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। ये जैन दर्शन के सर्वमान्य आचार्य कहे जाते हैं। इनके सर्वाधिक प्रमुख ग्रन्थ हैं आप्तमीमांसा, तत्त्वानुसन्धान आदि। इनका समय विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी मान्य है। अनेकान्त के बीज को विकसित करने में इनकी प्रमुख भूमिका रही है। इनके समय में भावैकान्त, अभावैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त आदि अनेक एकान्तों का प्राबल्य था। समन्तभद्र ने इन समस्त एकान्तों का स्याद्वाद दृष्टि से समन्वय किया है। इनकी आप्तमीमांसा, जो कि परिचयात्मक हैे, में तार्किक सिद्धान्तों के विवेचन की भरमार है, साथ ही अद्वैतवाद सहित अन्य तत्कालीन दार्शनिक प्रणालियों की समीक्षा भी है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में इसके उद्धरण दिये हैं।

सिद्धसेन दिवाकर

लगभग पॉचवीं शताब्दी में अनेक जैन विद्वान् हुए जिन्होंने बड़ी रुचि एवं उत्साह के साथ स्वयं को तर्कशास्त्र के अध्ययन के लिये समर्पित किया। उन्हीं में से एक थे सिद्धसेन दिवाकर। ये उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य के समकालीन थे। ये दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों आम्नायों में प्रसिद्ध हुए। ये वस्तुतः जैन न्याय के आचार्य थे। इनके लिखे हुए इक्कीस ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जिनमें सन्मतितर्कप्रकरण अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह प्राकृत में लिखी गयी रचना है इसमें सामान्य दर्शन एवं तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है। इनकी एक अन्य रचना है न्यायावतार। इस ग्रन्थ से ही जैन तर्कशास्त्र की आधारशिला का निर्माण हुआ। यह संस्कृत में लिखी गयी बत्तीस पद्यों की एक लघु रचना है। इसके अतिरिक्त इनके कल्याणमन्दिरस्तोत्र तथा कुछ द्वात्रिंशिकाएं भी प्राप्त होती हैं।

सिद्धसेनगणि

इस श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य का समय छठी शताब्दी मानी जाती है। ये तर्कशास्त्र के विकास करने वालों में अग्रणी थे। इन्होंने उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर एक उच्च कोटि की व्याख्या लिखी है। आचारांगसूत्रवृत्ति, न्यायावतार आदि इनकी अन्य कृतियॉ भी प्राप्त होती हैं।

अकलंकदेव

कदाचित् जैन तर्कशास्त्रियों में सर्वाधिक प्रमुख व प्रतिभाशाली अकलंक ही थे, जो राष्ट्रकूट के राजा शुभतुंग के समकालीन थे। उनकी अनेक रचनाएं बतायी जाती हैं जिनमें अष्टशती, तत्त्वार्थवार्त्तिक तथा न्यायविनिश्चय जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सर्वाधिक प्रमुख हैं। न्यायशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा अकलंक से प्रारम्भ होती है। इस दृष्टि से ये जैनन्याय अथ वा जैन प्रमाणशास्त्र के प्रतिष्ठापक आचार्य

हैं। उन्होंने बौद्धों की प्रखर आलोचना की। समस्त उत्तरकालीन जैनदार्शनिकों ने अकलंक द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाण पद्धति को ही पल्लवित और पुष्पित करके जैनन्यायोद्यान को सुवासित किया है।

माणिक्यनन्दिन्

ये दिगम्बर परम्परा के मान्य आचार्य थे। माणिक्यनन्दिन् का परीक्षामुख सूत्र जैन तर्कशास्त्र का मानक ग्रन्थ है जो अकलंक के न्यायविनिश्चय पर आधारित है। माणिक्यनन्दिन् के इस ग्रन्थ पर प्रभाचन्द्र ने अपनी प्रसिद्ध टीका प्रमेयकमलमार्तण्ड लिखी। उनकी अन्य ग्रन्थ न्यायकुमुदचन्द्र है जो अकलंक के ग्रन्थ लघीयस्त्रय का भाष्य है।

वदिदेवसूरि

इन्होंने स्वरचित सूत्र ग्रन्थ 'प्रमाणनयत्त्वालोकालंकार' पर अति विशाल भाष्य लिखा है जिसका नाम 'स्याद्वादरत्नाकर' है। इस एक ही ग्रन्थ को पढकर समस्त भारतीय दर्शन एवं समस्त न्याय पर अधिकार किया जा सकता है। जैन न्यायशास्त्र का कोई भी वाद इसमें छूट नहीं सका है।

हरिभद्र एवं हेमचन्द्राचार्य

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के दर्शनशास्त्रियों में हरिभद्र एवं हेमचन्द्र सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। हरिभद्र

विक्र्रम की आठवीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य थे। उनकी
रचनाओं में षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि इनकी प्रमुख हैं।
हेमचन्द्र का जन्म धुंधक, अहमदाबाद में हुआ था तथा वे राजा जयसिंह के समकालीन थे। वे कदाचित् गुजरात के राजा कुमारपाल के भी गुरु थे। कवि एवं वैयाकरण के साथ-साथ वे एक प्रसिद्ध दार्शनिक भी थे। प्रमाणमीमांसा तथा अन्ययोगव्यवच्छेदिका इनकी अमर कृति है। प्रमाणमीमांसा एक सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इनमें पॉच अध्याय तथा दस आह्निक हैं। प्रमाण का लक्षण, प्रमाण के भेद, प्रमाण का विषय, प्रमाण का प्रामाण्य, प्रमाण का फल- इनका इस ग्रन्थ में पूर्ण विवेचन किया गया है।

मल्लिषेण

आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी नाम से अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका पर एक अतिप्रसिद्ध व महत्त्वपूर्ण टीका लिखी। इसमें जैन दर्शन सम्मत स्याद्वाद सिद्धान्त का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। सिद्धान्त प्रवर्तन के क्रम में न्याय-वैशेषिक सम्मत पदार्थ सिद्धान्त का इसमें तार्किक खण्डन प्राप्त होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल से ही अध्ययन की गम्भीरता तथा चिन्तन की सूक्ष्मता की दृष्टि से जैन दार्शनिक किसी भी अन्य दार्शनिकों से पीछे नहीं रहे हैं, इनके प्रौढ तर्क और अटूट युक्तियॉ उनके दार्शनिक सिद्धान्तों को आज तक सुरक्षित रख रही है। जैन दर्शन से सम्बद्ध

विषयों को आधार बनाकर आज भी होने वाले कार्य इस बात का प्रमाण है कि इस दर्शन चिन्तन की जड़े़ कितनी मजबूत हैं। भले ही यथास्थितिवादी इसे नास्तिक कहें किन्तु इस विचारधारा के चिन्तकों ने भारतीयता को अक्षुण्ण बनाये रखी।

1.6 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि जैन दर्शन की परम्परा वेदकाल से आजतक बिना किसी व्यवधान के चली आ रही है। यथाकाल प्रबुद्ध चिन्तकों व दार्शनिकों ने अपनी प्रतिभा से इसे परिष्कृत व परिवर्धित किया। विभिन्न कालों व विचारधाराओं से गुजरते हुए इस दर्शन ने साहित्य के क्षेत्र में भी पर्याप्त विकास किया। अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगीनय तथा नय सिद्धान्त रूप वैचारिक देन ने दर्शन जगत् को चिन्तन की नयी व प्रामाणिक दिशा दी। ऐसे चिन्तकों का कालानुक्रम जानकर जैन दर्शन की विकास यात्रा को समझ पाना ही कदाचित् इस पाठ का समग्र है।आशा है इस इकाई के अध्ययन से आप जैनविषयक सहज व संक्षिप्त इतिहास को जानकर इस चिन्तन परम्परा में प्रवृत्त हो पाएंगे।

1.7 शब्दावली

अर्हत्- जैन दर्शन के अनुसार इनके तीर्थंकर अर्हत् कहलाते हैं। ये अर्हत् इनके ईश्वर माने जाते हैं। सर्वज्ञ सिद्ध पुरुषों को भी अर्हत् कहा जाता है।आगम- जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है। ऐसा माना जाता है कि आगमों की विषय वस्तु महावीर स्वामी की वाणी है। ये आगम ग्रन्थ जैन परम्परा में वेद की तरह ही मान्य है।

नव्य न्याय- नव्यन्याय दार्शनिक विषय को प्रस्तुत करने की एक नूतन व परिष्कृत शैली है जिसमें किसी भी विषय की परिभाषा व व्याख्या उसके पूर्ण तार्किक होने की स्थिति तक पहॅुचायी जाती है।

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.3- 1. ग, 2. घ, 3. घ, 4. क, 5. ख

1.4- 1. ग, 2. घ, 3. ग, 4. घ, 5. ख

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,

2. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1

3. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

4. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ

5. पं0 सुखलाल, प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्र) (1939)

6. मेहता, मोहनलाल, जैन दर्शन, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, लाहामंडी, आगरा

7. उमा स्वामी, तत्वार्थाधिगम सूत्र (सुखलाल संघवी कृत विवेचन), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5

8. मिश्र, पंकज कुमार (1998), वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप, परिमल पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर दिल्ली।

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

(क) जैन दर्शन के प्रारम्भिक इतिहास पर एक निबन्ध लिखें।

(ख) श्वेताम्बर तथा दिगम्बर की विचारधारा में अन्तर को स्पष्ट करें।

(ग) जैन साहित्य के काल का सम्यक् विभाजन कर उनकी विशेषताओं को रेखांकित करें।

(घ) जैन न्यायशास्त्र में योगदान देने वाले किन्हीं पॉच आचार्यों पर टिप्पणी करें।

(ड) जैन न्यायशास्त्र की क्रमिक विकास यात्रा को समझाएं।-

इकाई 2- जैन दर्शन का सिद्धान्त

2.1 प्रस्तावना

किसी भी दर्शन चिन्तन को उसकी अवधारणात्मक प्रकृति के आधार पर तीन वर्गों में बॉटा जा सकता है। ये हैं- ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा। जैन दर्शन चिनतन को भी समग्र रूप में जानने के लिये हमें इनका भी इसी प्रकार विश्लेषण करना चाहिए। अतः इस पाठ के अन्तर्गत, आपकी सुविधा के लिये जैन सिद्धान्त की समग्र व्याख्या पूर्वांकित विचार बिन्दु के अन्तर्गत किया जा रहा है।

विषय विस्तार की दृष्टि से यहॉ केवल ज्ञानमीमांसा का विवेचन किया जा रहा है। तत्त्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा का विवेचन अग्रिम पाठ में किया जाएगा।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जैन ज्ञानमीमांसा के महत्व को समझा सकेंगे तथा अन्य दर्शनों के साथ इनकी स्थिति का सम्यक् विश्लेषण कर सकेंगे।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप

- बता सकेंगे कि जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा विषयक दृष्टि क्या है?
- समझ सकेंगे कि जैन दर्शन में अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगी नयादि व्यवस्था क्या है?
- जान पाएंगे कि इस दर्शन में जगत् की विविधता का निहितार्थ क्या है?
- समझ सकेंगे कि जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा इस जगत् की अन्य विचारधारा के कितनी अनुरूप हैं?

2.3 जैन ज्ञानमीमांसा

जैन दर्शन चेतना को जीव का स्वरूप धर्म मानता है। जीव अपनी शुद्धावस्था में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य एवं अनन्त शक्ति से सम्पन्न होता है। यह इसका ‘अनन्त चतुष्टय’ कहलाता है। यह ज्ञान प्रकाश की तरह अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है और अपने को भी- ज्ञानं स्वपरभासि।

अनन्तचतुष्टयात्मक जीव का कर्मपुद्गलों के कारण शुद्ध चैतन्यरूप भाव अदृश्य हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण संसार को आलोकित करता है किन्तु मेघादि द्वारा उत्पन्न व्यवधान के कारण संसार को आलोकित नहीं कर पाता, उसी प्रकार जीव अनन्तचतुष्टय से युक्त होने पर भी कर्मपुद्गलों

के आवरण के कारण अपने पूर्ण ज्ञान को अभिव्यक्त नहीं कर पाता। कर्मपुद्गलों का पूर्णक्षय हो जाने पर वह पुनः सर्वज्ञ हो जाता है और उसके पूर्ण ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है।

यहॉ ज्ञान के दो भेद हैं- प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) और परोक्ष। जब ज्ञान माध्यमरहित होता है तो प्रत्यक्ष कहलाता है। जब यह माध्यमसहित होता है तो परोक्ष होता है।

2.3.1 प्रत्यक्ष ज्ञान-

इसमें ज्ञान इन्द्रियों या मन के द्वारा सीधे ग्रहण किया जाता है जबकि अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान दूसरे ज्ञान के माध्यम से प्राप्त होता है, अतः वह परोक्ष है। माणिक्यनन्दी ने प्रत्यक्ष का लक्षण दिया है- विशदं प्रत्यक्षम् अर्थात् स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष है। स्पष्ट ज्ञान वह है जो अपरोक्ष हो तथा जिसमें विषय के सभी धर्मों का ज्ञान हो। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद किये जाते हैं- पारमार्थिक और सांव्यावहारिक।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष आत्मसापेक्ष ज्ञान है। इसे जीवात्मा स्वयं जानता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ज्ञानेन्द्रिय, मन आदि की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुतः यह ज्ञान जीवात्मा के अवरोधक कर्मपुद्गलों के विनाश के बाद बिना किसी साधन के प्राप्त होता है। इसमें जीवात्मा का ज्ञेय वस्तुओं से साक्षात् सम्बन्ध होता है। इसकी प्राप्ति अंशतः या पूर्णतः कर्मबन्धनों के नष्ट होने पर होती है। जैन दर्शन में पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान के भी तीन भेद प्राप्त होते हैं- अवधि ज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान।

(1) अवधि ज्ञान-

देश और काल से परिच्छिन्न विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान, अवधि ज्ञान है। यह असाधारण दृष्टि द्वारा अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान है। व्यक्ति के प्रयत्न से कर्मपुद्गलों के अंशतः क्षयोपशम होने पर प्राप्त असाधारण शक्ति से उत्पन्न दूरस्थ, सूक्ष्म एवं अस्पष्ट द्रव्यों का ज्ञान अवधि ज्ञान है।

चूँकि यह ज्ञान देश और काल की परिधि में आने वाले पदार्थों का ज्ञान है अतः इसे अवधि ज्ञान कहते हैं।

(2) मनःपर्याय ज्ञान-

यह अन्य व्यक्तियों के मन के भावों और विचारों का ज्ञान है। जब व्यक्ति रागद्वेषादि मानसिक बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद अन्य व्यक्तियों के त्रैकालिक विचारों को जान लेता है तब इसे मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं।

(3) केवल ज्ञान-

यह ज्ञान देश काल की सीमा से रहित सर्वज्ञता है। यह सभी पदार्थांे एवं उनक परिवर्तनों का पूर्ण ज्ञान है। यह ज्ञान मुक्त जीवों को ही प्राप्त होता है। इसमें आत्मा शुद्ध सर्वज्ञ रूप में प्रकाशित होता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष -जीवात्मा को पंच ज्ञानेन्द्रियों एवं मन की सहायता से प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि इस ज्ञान की उपलब्धि में साधनांे की आवश्यकता होती है। साधनों के अभाव में इसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। यह ज्ञान कभी-कभी ज्ञानेन्द्रियों एवं मन, दोनों की सहायता से प्राप्त होता है और कभी-कभी केवल मन की सहायता से। यह वह प्रत्यक्ष ज्ञान है जो हमें दैनिक जीवन में प्राप्त होता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं-मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान।

(1) मति ज्ञान-

यह वह ज्ञान है जो इन्द्रियों एवं मन का विषय से संयोग होने से प्राप्त होता है। इसमें बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान एवं आन्तरिक विषयों का मानस ज्ञान दोनों होता है।

(2) श्रुत ज्ञान-

जैन तीर्थंकरों के उपदेशों एवं जैन आगमों से प्राप्त ज्ञान श्रुत ज्ञान है। यह शास्त्रनिबद्ध ज्ञान है। जैन दर्शन के अनुसार मति, श्रुत एवं अवधि ज्ञानों में त्रुटि की सम्भावना रहती है, किन्तु मनःपर्याय एवं केवल ज्ञानों में त्रुटि की सम्भावना नहीं

2.3.2 परोक्ष ज्ञान-

प्रायः जैनेतर भारतीय दर्शनों में इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार किया जाता है। कभी-कभी जैन दर्शन भी इसे प्रत्यक्ष ज्ञान मानता है और उसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहता है। किन्तु जैन दर्शन के कतिपय आचार्य पारमार्थिक प्रत्यक्ष को ही वास्तविक प्रत्यक्ष कहते हैं जिसमें ज्ञाता बिना किसी साधन का आश्रय लिये ज्ञेय वस्तु का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार वे आत्मसापेक्ष ज्ञान को ही प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे उस ज्ञान को, जिसमें इन्द्रियों, मन आदि माध्यमों की आवश्यकता होती है, परोक्ष ज्ञान कहते हैं। अर्थात्, इन्द्रियमनः सापेक्ष ज्ञान परोक्ष ज्ञान है।‘प्रमाणनयतत्त्वालंकार’ में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान में परस्पर भेद केवल स्पष्टता के अंश से ही है। प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान में केवल अपेक्षाकृत अन्तर है। परोक्ष अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष अपेक्षाकृत परोक्ष। इन्द्रियजन्य बाह्य एवं मानसिक विषयों का मति ज्ञान अनुमान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है और पारमार्थिक प्रत्यक्ष की अपेक्षा से परोक्ष है। परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत मति एवं श्रुत ज्ञान

आते हैं श्रुत ज्ञान भी परोक्ष ज्ञान है, क्योंकि वह मतिपूर्वक होता है। जैन दर्शन में इन दोनों ज्ञानों के अतिरिक्त स्मृति, प्रत्यभिक्षा, तर्क एवं अनुमान को भी परोक्ष ज्ञान माना जाता है।

2.3.3 प्रमाण

प्रमा का करण या ज्ञान का साधन प्रमाण कहलाता है। साधारणतया जैन दर्शन में तीन प्रमाण प्राप्त होते हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानशब्दानि)।

(1) प्रत्यक्ष प्रमाण- जैन दर्शन में वास्तविक प्रत्यक्ष पारमार्थिक प्रत्यक्ष है जिसकी प्राप्ति हेतु किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती। इसमें विषय का सीधा प्रत्यक्ष होता है। जैन दर्शन में एक अन्य प्रत्यक्ष की भी चर्चा की गयी है। वह है, 'सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष'। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में चार अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है जो अधोलिखित हैं-

(क) अवग्रह- इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष होने पर नाम, आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्यमात्र का ज्ञान अवग्रह है। जैसे, नेत्र का पुष्प से सन्निकर्ष होने पर यह प्रतीत होना कि कोई वस्तु है, किन्तु यह न ज्ञात होना कि वह क्या है, अवग्रह है।

(ख) ईहा- अवगृहीतार्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा 'ईहा' है। इसमंे मन प्रमेय विषय का विवरण जानने की इच्छा करता है।

(ग) अवाय- ईहितार्थ का विशेष निर्णय 'अवाय' है। इस अवस्था में दृश्य विषय के गुणों का निश्चायक एवं निर्णायक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जैसे, 'यह रक्त कमल है', दृश्य विषय का यह निश्चायक ज्ञान 'अवाय' है।

(घ) धारणा-इस अवस्था में दृश्य विषय का पूर्ण ज्ञान हो जाता है और इसका संस्कार जीव के अन्तःकरण में अंकित हो जाता है। इसी से स्मृति उत्पन्न होती है। अतः जैन दार्शनिक स्मृति के हेतु के रूप में धारणा की व्याख्या करते हैं।

उपर्युक्त चार अवस्थाओं से संक्रमित होने के उपरान्त प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है।

(2) अनुमान प्रमाण- जैन दार्शनिक अनुमान को भी यथार्थ ज्ञान का प्रमाण मानते हैं। अनुमान एक परोक्ष ज्ञान है। जिसमें अनुमान के आधार पर साध्य का ज्ञान प्राप्त होता है।

जैन दार्शनिक भी अनुमान के दो भेद स्वीकार करते हैं- स्वार्थ और परार्थ। अपने संशय को दूर करने के लिए किया गया अनुमान स्वार्थानुमान है। दूसरों की संशयनिवृत्ति के लिए किया गया एवं व्यवस्थित तरीके से व्यक्त किया गया अनुमान परार्थानुमान है। जैन तर्कशास्त्री सिद्धसेन दिवाकर

न्याय दार्शनिकों के समान ही अनुमान में पाँच अवयव स्वीकार करते हैं- प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन। भद्रवाहु अनुमान में दशावयव मानते हैं- प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विभक्ति, हेतु, हेतु-विभक्ति, विपक्ष, विपक्ष-प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, आशंका-प्रतिषेध और निगमन।

(3) शब्द प्रमाण- शब्द प्रमाण भी जैन दर्शन में एक परोक्ष प्रमाण है। जो ज्ञान शब्द के द्वारा प्राप्त हो, किन्तु प्रत्यक्ष के विरुद्ध न हो, वह शब्द प्रमाण है। जैन दर्शन में शब्द प्रमाण के दो भेद हैं- लौकिक और शास्त्र। तत्त्ववेत्ता विश्वसनीय व्यक्तियों के शब्दों एवं वचनां से प्राप्त ज्ञान लौकिक ज्ञान है और शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान शास्त्रज ज्ञान है।

जैन दर्शन के अनुसार इन प्रमाणों से अविद्या का क्षय, आनन्द की प्राप्ति एवं व्यावहारिक जीवन में सत्यासत्य का निर्णय होता है।

2.3.4 नय-सिद्धान्त

जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा का एक महत्वपूर्ण पक्ष उनका 'नय-सिद्धान्त- है। जैन मत में प्रमाणों के द्वारा तत्त्वों का ज्ञान होता है। जैन दार्शनिक प्रमाण के अतिरिक्त दृष्टिकोण-विशेष जिसे वे 'नय' कहते हैं, से भी तत्त्वों के ज्ञान की पुष्टि करते हैं। जैन दर्शन के प्रमाण एवं नय दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं। इन दोनों के आधार पर किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाता है- प्रमाणनयैरधिगमः। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि प्रमाण से वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान होता है। किसी पदार्थ को उसी रूप में जानना जिस रूप में वह है प्रमाण है। नय से वस्तु का आंशिक ज्ञान होता है। इसी कारण प्रमाण को सकलादेश कहा जाता है और नय को विकलादेश।

जैन दर्शन में वस्तु अनन्तधर्मात्मक मानी जाती है। वस्तु के अनन्त धर्मों का ज्ञान मात्र केवली (सर्वज्ञ) को होता है। साधारण मनुष्य को वस्तु के अनन्त धर्मों का ज्ञान होना असम्भव है, क्योंकि कर्मजन्य बन्धनों के कारण उसके ज्ञान की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, फलस्वरूप वस्तु के विषय में उसकी जानकारी सीमित या आंशिक होती है। वह वस्तु के सीमित धर्मों को जानता है और उसी के आधार पर उसका वर्णन भी करता है। जैन दर्शन वस्तु के विषय में व्यक्ति के आंशिक ज्ञान या सापेक्ष दृष्टि को 'नय' कहता है- एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः।

जैन दर्शन में इस आंशिक दृष्टिकोण के आधार पर वस्तु के विषय में परामर्श को भी 'नय' कहा जाता है। संक्षेप में, जैन दर्शन में नय के दो अर्थ हैं-

(1) वस्तु के विषय में आंशिक दृष्टिकोण और

(2) आंशिक के आधार पर वस्तु के विषय में परामर्श।

जैन दर्शन में नय के सात भेद प्राप्त होते हैं। ये सातों नय निम्नलिखित हैं- नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय, ऋृजुसूत्र नय, शब्द नय, समभिरूढ़ नय और एवंभूत नय।

(1) नैगम नय- नैगम नय की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। प्रथम व्याख्या के अनुसार यह किसी प्रयत्न-विशेष के लक्ष्य से सम्बन्धित है जो बिना किसी व्यवधान के उस प्रयास को नियन्त्रित करता है। सिद्धसेन इससे भिन्न मत को स्वीकार करता है। जब हम किसी वस्तु को जातिगत एवं विशिष्ट दोनों गुणों से युक्त देखते हैं तब यह भी नैगम नय है। अथवा धर्म और धर्मी को, अंग और अंगी को, सामान्य और विशेष को, क्रिया और कारक को तथा भेद और अभेद को गौण-मुख्य भाव से ग्रहण करना नैगम नय है। जैसे 'जीव-द्रव्य' कहने से धर्मी जीव का मुख्य रूप से और ज्ञानादि धर्म का गौणरूप से ग्रहण होता है। किन्तु 'चेतन जीव' कहने से चेतना धर्म का मुख्य रूप से और जीवद्रव्य का गौण रूप से ग्रहण होता है।

(2) संग्रह नय- संग्रह नय में सामान्य विशिष्टताओं को स्वीकार किया जाता है। यह वह दृष्टि है जिसमें अभेद का ग्रहण होता है और भेद का निराकरण होता है। इस दृष्टि से यह स्वीकार किया जाता है कि सत्ता केवल सामान्य की है, विशेष की कोई सत्ता नहीं है।

(3) व्यवहार नय- इस दृष्टि में विशेष अथवा भेद का ग्रहण होता है और सामान्य अथवा अभेद की उपेक्षा होती है। यह प्रचलित एवं परम्परागत दृष्टिकोण है इसमें वस्तु की निजी विशेषताओं पर बल दिया जाता है। इस दृष्टि की पृष्ठभूमि में यह विचार है कि केवल सामान्य से लोकव्यवहार नहीं संचालित होता। लोकव्यवहार के लिए भेद या वस्तु की विशिष्टता को स्वीकार करना आवश्यक है। यही व्यवहार है।

(4) ऋृजुसूत्र नय- इस दृष्टि में पदार्थ की वर्तमानकालीन अवस्था का विचार किया जाता है। इसमें सब प्रकार के नैरन्तर्य को भुला दिया जाता है, फलस्वरूप वस्तु के स्वरूप निर्धारण में उसके भूत एवं भविष्यत् रूपों को कोई महत्व नहीं दिया जाता।

(5) शब्द नय- इस दृष्टि में अनेक शब्दों को एक ही अर्थ का द्योतक माना जाता है। इसमें यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक नाम का अपना अर्थ होता है और अन्य शब्द भी उसी एक पदार्थ को द्योतित कर सकते हैं। जैसे, घट, कलश और कुम्भ को एक ही पदार्थ का वाचक माना जाता है।

(6) समभिरूढ़ नय- इस में पदों के धात्वर्थ के आधार पर भेद किया जाता है। यह इस बात पर बल देता है कि शब्दव्युत्पत्ति के आधार पर एकार्थक पदों के भी भिन्न अर्थ होते हैं। इसके अनुसार न तो कई शब्दों का एक वाच्यार्थ होता है और न एक शब्द का अनेक अर्थ होता है। जैसे पंकज को कमल

का पर्यायवाची माना जाता है, किन्तु व्युत्पत्ति के आधार पर इसका अर्थ है 'वह, जो कीचड़ से उत्पन्न हो'। इस प्रकार शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर कमल का अर्थ नहीं देता।

(7) एवंभूत नय- यह समभिरूढ़ नय का विशिष्ट रूप है। उल्लेखनीय है कि समभिरूढ़ नय किसी शब्द का अर्थ उसकी व्युत्पत्ति के आधार पर करता है और व्युत्पत्ति-भेद से अर्थभेद करता है। एवंभूत नय इस बात पर बल देता है कि उस शब्द का अर्थ तभी स्वीकार करना चाहिए जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ के अनुरूप वैसी क्रिया (एवंभूत) सम्पन्न हो रही हो। जैसे, 'पुजारी' शब्द। समभिरूढ़ नय के अनुसार इसका अर्थ है, 'पूजा करने वाला व्यक्ति', किन्तु एवंभूत नय के आधार पर वह केवल उसी समय पुजारी कहा जायेगा जब पूजाकार्य में प्रवृत्त हो, अन्य समय में नहीं। इस प्रकार यह नय समभिरूढ़ नय के अस्पष्ट भाव को स्पष्ट करता है।

प्रत्येक नय पदार्थ का ज्ञान कराने वाले अनेक दृष्टिकोणों में से केवल एक ही दृष्टिकोण को प्रस्तुत

करता है। किन्तु यदि किसी दृष्टिकोण को सम्पूर्ण समझ लिया जाता है तो यह नयाभास कहलाता है। उल्लेखनीय है कि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक दृष्टिकोण (नय) सापेक्षतः सत्य है। अतः न तो वह पूर्णरूपेण मिथ्या है और न वह एकमात्र सत्य ही है।

जैन दर्शन में उपर्युक्त सातों नयों का वर्गीकरण दो वर्गों में किया जाता है- अर्थनय और शब्दनय। सातों नयों में से प्रथम चार अर्थनय के अन्तर्गत आते हैं और अन्तिम तीन नय शब्द नय के अन्तर्गत। कभी-कभी इन नयों का वर्गीकरण निश्चय नय और व्यवहारिक नय में किया जाता है। निश्चय नय के द्वारा तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। इससे तत्त्व के स्वाभाविक नित्य गुणों के स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। व्यावहारिक नय लोक व्यवहार की दृष्टि से तत्त्वों का ज्ञान कराता है। जैन दर्शन में नय का एक अन्य वर्गीकरण भी प्राप्त होता है- द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। पदार्थ के दृष्टिकोण से तत्त्वों का विवेचन द्रव्यार्थिक नय है। इसमें किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके गुणों को द्रव्य पर निर्भर माना जाता है। पर्यायार्थिक नय में परिवर्तन अथवा अवस्था के दृष्टिकोण से विषय का विवेचन किया जाता है। इसमें गुणों की विशिष्टता पर बल देकर द्रव्य को काल्पनिक माना जाता है। जैन दर्शन के उपरोक्त सातों नयों में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय नय द्रव्यार्थिक हैं और अन्तिम चार पर्यायार्थिक हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन दर्शन चेतना को जीव का ------------ मानता है।
2. जिसमें इन्द्रियों, मन आदि माध्यमों की आवश्यकता होती है, -----कहते हैं।

3. जैन दर्शन में प्रमाण है

(क) सकलादेश (ख) विकलादेश

(ग) चलादेश (घ) अचलादेश

4. व्यक्ति के आंशिक ज्ञान या सापेक्ष दृष्टि को ------- कहता है

5. जैन दर्शन में नय का अर्थ है-

(क) वस्तु के विषय में आंशिक दृष्टिकोण (ख) वस्तु का पूर्ण ज्ञान

(ग) वस्तु का विशद स्वरूप (घ) इन्द्रियों से वस्तु का ज्ञान

6. जैन दर्शन में शब्द प्रमाण के कितने भेद हैं?

2.4 स्याद्वाद

स्याद्वाद जैन दर्शन का सर्वाधिक विलक्षण सिद्धान्त है। उल्लेखनीय है कि जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा अनेकान्तवादी है जिसमें वस्तु 'अनन्तधर्मात्मक' मानी जाती है। अनन्तधर्मात्मक होने के कारण उसका स्वरूप अत्यधिक जटिल होता है। वस्तु के अनन्त धर्मो का ज्ञान मात्र केवली को होता है, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ वह है जो किसी वस्तु को सभी दृष्टियों से जानता है। उसके अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को सभी वस्तुओं को सभी दृष्टियों से जान लेता है- एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वो भावः सर्वथा तेन दृष्टः।

साधारण मनुष्य का ज्ञान अत्यधिक सीमित होता है, क्योंकि वह किसी वस्तु को कुछ ही दृष्टियों से देखता है। वह वस्तु के आंशिक धर्मो को ही जानता है और उसी के आधार पर वस्तु के विषय में परामर्श करता है। फलस्वरूप उनके कथनों में परस्पर मतभेद होता है। इनमें से किसी कथन द्वारा वस्तु के स्वरूप का पूर्ण बोध नहीं होता, वस्तु के विषय में कोई कथन एकमात्र सत्य नहीं होता। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप अत्यन्त जटिल होने के कारण उसके विषय में कोई कथन अंशतः ही सही होता है, किन्तु कोई कथन पूर्णरूपेण सही नहीं होता। उसकी सत्यता सापेक्ष होती है।

ससे पूर्व इयह बताया गया था कि जैन दर्शन में वस्तु के विषय में व्यक्ति के आंशिक ज्ञान को 'नय' कहते हैं और इस आंशिक ज्ञान के आधार पर वस्तु के विषय में जो परामर्श होता है, उसे भी 'नय' कहते हैं। जैन दर्शन परामर्श के तीन भेद करता है-दुर्नय, नय और प्रमाण नय- सदेव सत्स्यादिति त्रिधार्थो मीयते दुर्नीतिनयप्रमाणैरिति। दुर्नय परामर्श का वह रूप है जिसमें किसी परामर्श-विशेष के ही

एकमात्र सत्य होने का कथन किया जाता है। जैसे, किसी वस्तु के विषय में यह कथन कि यह सत् ही है दुर्नय है। जैन दर्शन के अनुसार यह एकान्तवाद के दोष से ग्रस्त है, क्योंकि इसमें आंशिक एवं सापेक्ष सत्य को पूर्ण एवं निरपेक्ष सत्य मान लिया जाता है। दुर्नय होने के कारण इसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

नय परामर्श का वह रूप है जिसमें किसी वस्तु के विषय में साधारण रीति से कोई कथन किया जाता है। जैसे, यह सत् है नय है। यह परामर्श एक दृष्टि से सत्य है, किन्तु पूर्ण सत्य नहीं है। वह विकलादेश से ग्रस्त होने के कारण एकनिष्ठ धर्म का प्रतिपादन करता है और उसके अन्य धर्मां का निषेध करता है। दुर्नय तो नहीं है, किन्तु यह प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि इसमें ज्ञान की आंशिकता को स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं किया जाता।

जैन विचारधारा में प्रमाण परामर्श का वह रूप है, जिसमें वस्तु के विषय में कोई कथन परिस्थितियों, धर्मों एवं विचारों से सिद्ध किया जाता है। इस परिस्थिति धर्म अथ वा विचार का सामान्य रूप है, 'एक दृष्टि में यह सत् है'। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण सकलादेश है और पूर्णतया सत्य है। जैन दर्शन में 'एक दृष्टि में' इस पदावली का अर्थ देने के लिए किसी कथन के पूर्व 'स्यात्' इस विशिष्ट शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैन दर्शन में 'स्यात्' शब्द एक तकनीकी अथ वा पारिभाषिक शब्द के रूप में आया है। यह शब्द यहाँ ज्ञान की पूर्ण सापेक्षता का द्योतक है।

2.4.1 सप्तभङ्गी नय

स्याद्वाद का प्रमाण सप्तभंगी नय है। इसका अर्थ है, किसी वस्तु के विषय में परामर्श या नय के सात प्रकार। सप्तभंगी द्वारा किसी वस्तु के नानाविध धर्मों का निश्चय किया जा सकता है। ये बिना किसी आत्मविरोध के अलग-अलग या संयुक्त रूप से किसी वस्तु के विषय में विधान या निषेध करते हैं और इस प्रकार किसी वस्तु के अनेक धर्मों का प्रकाशन करते हैं। सामान्यतः पाश्चात्य दर्शन में परामर्श के दो भेद किये जाते हैं- विध्यात्मक और निषेधात्मक। किन्तु जैन दर्शन में परामर्श के सात भेद किये जाते हैं। इसी को सप्तभंगी नय कहते हैं। इसके सात नय (प्रमाण नय) निम्नलिखित हैं-

(1) स्यादस्ति- जैन दर्शन के अनुसार विध्यात्मक नय 'स्यादस्ति च' आकार में अभिव्यक्त होना चाहिए। जैसे, स्यात् घट है। इससे यह अर्थ निकलता है कि घट अपने नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से विद्यमान है।

(2) स्यान्नास्ति- जैन दर्शन के अनुसार निषेधात्मक नय 'स्यान्नास्ति च' आकार में कहा जाना चाहिए। जैसे, स्यात् घट नहीं है। इसका आशय है कि पर नाम पर स्थापना, पर द्रव्य एवं परभाव की दृष्टि से घड़ा विद्यमान नहीं है। अर्थात् सुवर्ण आदि का बना हुआ (पर द्रव्य), चौकोर घट (पर नाम)

एक भिन्न स्थान (पर स्थापना) और एक भिन्न समय में (पर भाव से) विद्यमान नहीं है। संक्षेप में, स्यात् से यह आशय निकलता है कि जिस घट के विषय में परामर्श हुआ है, एक विशेष समय में उस स्थान पर नहीं है जहाँ के लिए उसके सम्बन्ध में परामर्श हुआ है।

(3) स्यादस्ति च नास्ति च- इस नय में दृष्टिभेद से वस्तु का विधान और निषेध दोनों है। जैसे- स्यात् घट है भी और नहीं भी है। इसमें स्व-रूप-द्रव्य- स्थान-काल की दृष्टि से घट का विधान किया जाता है। और पर-रूप-द्रव्य- देश-काल की दृष्टि से घड़े का निषेध भी किया जाता है। इस नय का आशय यह है कि एक विशेष अर्थ में घट है और अन्य अर्थ में घट नहीं है। इसमें इस बात पर बल दिया जाता है कि 'एक वस्तु क्या है और क्या नहीं है', स्यात् शब्द से यह सूचित होता है कि अस्ति और नास्ति के समुच्चय में तर्कतः विरोध नहीं है।

(4) स्यादवक्तव्यम्- जैन दर्शन के अनुसार किसी वस्तु के अस्ति, नास्ति और उभय के अतिरिक्त एक अन्य कोटि भी है, वह अवक्तव्यता की है। यहाँ अवक्तव्य का अर्थ है, 'युगपत् कथन करने की असमर्थता'। इसका अर्थ है कि दृष्टिभेद से किसी वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों होते हैं, किन्तु भाषा की सीमा और अपर्याप्तता के कारण हम विरोधी गुणों का एक साथ निर्वचन नहीं कर पाते। जैसे, स्यात् घट अवक्तव्य है। इसका अर्थ है कि किसी घट में अपने रूप की उपस्थिति और अन्य रूप की अनुपस्थिति एक साथ होती है, किन्तु हम उसे व्यक्त नहीं कर पाते।

(5) स्यादस्ति च अवक्तव्यं च- यह नय प्रथम और चतुर्थ नय को मिलाने से बनता है। इस नय में वस्तु की सत्ता और उसकी अनिर्वचनीयता दोनों का कथन किया जाता है। यह नय यह लक्षित करता है कि कोई वस्तु स्व-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से विद्यमान होने पर भी अपनी इन विशेषताओं और पर-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से वह अवक्तव्य भी हो सकती है। जैसे, स्यात् घट है और अवक्तव्य भी है। इस नय का अर्थ है कि यदि घट के द्रव्य रूप (मृत्तिका) को देखें तो घट है। किन्तु इसके द्रव्य रूप (मृत्तिका) और परिवर्तनशील रूप, दोनों को एक समय में देखें तो वह अस्तित्ववान् होने पर भी अवर्णनीय है।

(6) स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च- यह नय वस्तु की असत्ता और उसकी अनिर्वचनीयता दोनों को उपलक्षित करता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई वस्तु पर-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से अविद्यमान होने पर भी इन विशेषताओं के साथ स्व-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से वह अव्यक्त भी हो सकती है। जैसे, स्यात् घट नहीं है और अव्यक्त भी है। इस नय का अर्थ यह है कि घट अपने पर्याय रूप की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वे रूप क्षण-क्षण में परिवर्तित होते रहते हैं।

(7) स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च- यह नय तृतीय और चतुर्थ नयों को मिलाने से बनता है। जैसे, स्यात् घट है, नहीं है और अव्यक्त भी है। अपने निजी चतुष्टय (स्व-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव) की दृष्टि से परवस्तु के चतुष्टय (पर-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव) की दृष्टि से और अपने निजी एवं अभावात्मक वस्तु के संयुक्त चतुष्टय के दृष्टि से कोई वस्तु हो सकती है, नहीं भी हो सकती है और अव्यक्त भी हो सकती है। इन दोनों दृष्टियों के आधार संयुक्त रूप से विचार करने पर वह अवक्तव्य है। नय में द्रव्य और पर्यायों के एक साथ होने और अलग-अलग होने के कारण घट का अस्तित्व, अनस्तित्व और अव्यक्तत्व सूचित होता है।

स्याद्वाद अनेकान्तवाद को सिद्ध करता है। जैन दर्शन का दावा है कि स्याद्वाद से अनेकान्तवाद सिद्ध होता है। इसके अनुसार विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त विभिन्न दृष्टियों पर आधारित होते हैं। इस प्रकार सत्ता सम्बन्धी जितने सिद्धान्त हैं, सत्ता में उतने धर्म हैं। सप्तभंगी नय की सात विधाओं से यह प्रमाणित होता है कि वस्तु सम्बन्धी विवेचन अनेक दृष्टियों पर आधारित होता है। इस प्रकार वस्तु अनेक धर्मात्मक या अनन्त धर्मात्मक होती है।

स्याद्वाद वस्तुवाद है। इसके अनुसार हमारे परामर्श मानसिक प्रत्ययमात्र नहीं हैं, बल्कि वे वस्तु के वास्तविक धर्मों की ओर संकेत करते हैं। जैन मत सापेक्षवाद है। स्पष्ट हो चुका है। वस्तुतः यह वस्तुवादी सापेक्षवाद है, क्योंकि यह मानव ज्ञान को वस्तुओं के धर्मों से सापेक्ष मानता है और ये धर्म मनस्तन्त्र न होकर वस्तुतन्त्र है। इस प्रकार यह प्रत्ययवादी सापेक्षवाद से भिन्न है जिसमें वस्तु के धर्मों को मनस्तन्त्र माना जाता है। स्याद्वाद बहुलवाद अथवा बहुलवादी वस्तुवाद है, क्योंकि यह वस्तु के अनन्त धर्मों को स्वीकार करता है।

समीक्षा- जैनेतर भारतीय दर्शन में स्याद्वाद को अस्वीकार किया गया है। स्याद्वाद के प्रधान आलोचकों में बौद्ध, मीमांसक एवं अद्वैत वेदान्ती दार्शनिकों को जाना जाता है। स्याद्वाद के विरुद्ध निम्नलिखित आपेक्ष किये जाते हैं-

(1) आचार्य शंकर ने स्याद्वाद को संशयवाद और अनिश्चिततावाद की संज्ञा दी है। वस्तुतः जैन दर्शन पर ये आरोप 'स्यात्' शब्द के शाब्दिक अर्थ के आधार पर लगाये जाते हैं। ये आलोचक स्यात् शब्द का अर्थ 'हो सकता है', 'शायद', 'कथंचित्' करते हैं और इस आधार पर स्याद्वाद पर उपरोक्त आरोप लगाते हैं। किन्तु स्याद्वाद, संशयवाद, अनिश्चिततावाद या अज्ञेयवाद नहीं है।

(2) आलोचक सप्तभंगी नय के तृतीय नय को आत्मविरोधी घोषित करते हैं। इनके अनुसार कोई वस्तु 'है' और 'नहीं है' एक साथ कैसे हो सकती है? धर्मकीर्ति का कथन है कि, 'ये निर्लज्ज जैन दार्शनिक पागल मनुष्य के समान परस्पर विरोधी कथन करते हैं।' आचार्य शंकर के अनुसार,

'स्याद्वाद, जो कि यथार्थ और अयथार्थ, अस्तित्व और अनस्तित्व, एक और अनेक, अभिन्न और भिन्न तथा सामान्य और विशेष आदि का मिश्रण करता है, पागल व्यक्ति के क्रन्दन और उन्मत्त के प्रलाप के समान प्रतीत होता है'। किन्तु जैन दार्शनिक ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं। विभिन्न दृष्टियों से विचार करने पर उसके धर्मांे में कोई विरोध नहीं दिखायी देता। द्रव्य की दृष्टि से वस्तु में एकता एवं नित्यता आदि का विधान किया जा सकता है तो पर्याय की दृष्टि से अनेकता और अनित्यता आदि का। अतः स्याद्वाद में कोई विरोध नहीं है।

(3) जैन दर्शन के अनुसार हमारे सभी ज्ञान सापेक्ष एवं आंशिक हैं। वे निरपेक्ष ज्ञान को अस्वीकार करते हैं। किन्तु निरपेक्ष को स्वीकार किये बिना सापेक्ष की अवधारणा को स्वीकार करना असम्भव है। पुनः, जैन दार्शनिक 'केवल ज्ञान' को शुद्ध, पूर्ण, अपरोक्ष और परमार्थ ज्ञान मानते हैं जो सभी आवरणीय कर्मों के क्षय हो जाने पर प्राप्त होता है।

(4) जैन दर्शन स्याद्वाद एवं सप्तभंगी नय के आधार पर अन्य मतों की परीक्षा तो करता है, किन्तु इसके आधार पर वह अपनी परीक्षा नहीं करता। वह स्याद्वाद के आधार पर अन्य मतों को सापेक्ष और आंशिक सत्य मानता है। किन्तु वह अपने सिद्धान्त को एकमात्र सत्य घोषित करके इसे भूल जाता है। इस प्रकार स्याद्वाद एंव सप्तभंगीनय अन्तर्विरोध से ग्रस्त है।

(5) स्याद्वाद अनेकान्तवाद को स्थापित नहीं करता है। जैन दर्शन का यह दावा अनुचित है कि वह स्याद्वाद के आधार पर अनेकान्तवाद को सिद्ध करता है। वस्तुतः जैन तर्कशास्त्र एवं ज्ञानमीमांसा अद्वैतवाद की ओर ले जाती है। आचार्य शंकर का कथन है कि यदि सभी सिद्धान्त सोपाधिक दृष्टि से सत्य हैं तो स्याद्वाद स्वयं भी सोपाधिक सत्य होगा। सापेक्षता निरपेक्ष से सम्बन्धित है और उसके अस्तित्व को पहले ही स्वीकार कर लेती है। स्याद्वाद हमें बिखरे हुए नयों को देता है, किन्तु उनके समन्वय का प्रयास नहीं करता। सप्तभंगी नय सात नयों का एकत्रीकरणमात्र है, उनका समन्वय नहीं। निरपेक्ष ही वह सूत्र है जो सब सापेक्षों में एकता स्थापित करता है। 'अनन्तधर्मात्मक' कहने से एवं धर्मी की उपेक्षा करने से तत्त्व को बोध नहीं हो सकता।

इस प्रकार स्यद्वाद एकांगी मतों को इकट्ठा करके छोड़ देता है और उनमें समन्वय करने का प्रयास नहीं करता। जैन दर्शन का स्याद्वाद वहाँ तक तो ठीक है जहाँ तक यह लोगों को एकांगी मतों से सावधान करता है। किन्तु वह हमें जिस स्थल पर छोड़ता है, वह एकांगी समाधानांे से थोड़ा ही अधिक है। वस्तुतः या तो जैन दार्शनिक अपने तर्कशास्त्र के निहितार्थों को नहीं समझ सके या साम्प्रदायिक कारणों से उसके निहितार्थ का कथन नहीं कर सके। यदि वे उसके तार्किक निष्कर्ष का कथन करने का साहस करते तो वे अनिवार्यतः अद्वैतवाद पर पहुँचते।

अभ्यास प्रश्न

1. स्यात् है-

(क) पूर्ण ज्ञान (ख) सापेक्ष ज्ञान

(ग) केवल ज्ञान (घ) इन्द्रिय ज्ञान

2. स्याद्वाद -------- को सिद्ध करता है।

3. जैन विचारधारा में -------- परामर्श का वह रूप है, जिसमें वस्तु के विषय में कोई कथन परिस्थितियों, धर्मों एवं विचारों से सिद्ध किया जाता है।

4. स्याद्वाद का प्रमाण ---------------- है।

2.5 सारांश

इस इकाई के द्वितीय पाठ को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा में प्रमाण एवं नय की अनूठी व्याख्या है। यह ज्ञानमीमांसा अन्य दार्शनिक विचारधारा की अपेक्षा कहीं अधिक अध्यात्मपरक है। साथ ही यह विचारधारा कहीं अधिक अध्यात्मोन्मुखी है। किन्तु अनकी सर्वाधिक अनूठी देन अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगीनय तथा नय सिद्धान्त है जिन्होंने दर्शन जगत् को चिन्तन की नयी व प्रामाणिक दिशा दी। स्याद्वाद तो ऐसा चिन्तन है जिसकी छाया आईन्स्टीन के सापेक्षिक सिद्धान्त में देखी जा सकती है। इनके सिद्धान्तों के साथ एक विस्तृत समीक्षा दी गयी है जो तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यहॉं प्रस्तुत की गयी है।

आशा है इस इकाई के अध्ययन से आप जैनविषयक ज्ञानमीमांसा के सहज व संक्षिप्त रूप् को पढकर व जानकर इस चिन्तन परम्परा में प्रवृत्त हो पाएंगे।

2.6 शब्दावली

केवली- जैन दर्शन में देश कालादि की सीमा से रहित ज्ञान सर्वज्ञता है। इस परम ज्ञान को प्राप्त करने वाला केवली कहलाता है। वस्तु के अनन्त धर्मो का ज्ञान मात्र केवली को होता है।

सप्तभंगी- स्याद्वाद को प्रकट करने की सात विधा है जिसे सामान्यतया सप्तभंगी कहा जाता है। सप्तभंगी द्वारा किसी वस्तु के नानाविध धर्मों का निश्चय किया जा सकता है। दूसरी ओर जैन दर्शन में परामर्श के सात भेद किये जाते हैं। इसी को सप्तभंगी नय कहते हैं।

बहुलवाद- स्याद्वाद बहुलवाद अथवा बहुलवादी वस्तुवाद है, क्योंकि यह वस्तु के अनन्त धर्मों को स्वीकार करता है।

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.3 1. स्वरूप धर्म, 2. परोक्ष ज्ञान, 3. क, 4. नय, 5. क 6. दो

2.4 1. ख, 2. अनेकान्तवाद, 3. प्रमाण, 4. सप्तभंगी नय

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,

2. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1

3. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

4. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ

5. पं0 सुखलाल, प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्र) (1939)

6. मेहता, मोहनलाल, जैन दर्शन, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, लाहामंडी, आगरा

7. उमा स्वामी, तत्वार्थाधिगम सूत्र (सुखलाल संघवी कृत विवेचन), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5

8. मिश्र, पंकज कुमार (1998), वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप, परिमल पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर दिल्ली।

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

(क) जैन दर्शन की अनुमान व्यवस्था को विस्तारपूर्वक समझाएं।

(ख) नय सिद्धान्त को सोदाहरण समझाएं।

(ग) सप्तभंगीनय की सोदाहरण वयाख्या करें।

(घ) आज के सन्दर्भ में स्याद्वाद की महत्ता पर प्रकाश डालें।

(ड) जैन दर्शन के प्रमाण चिन्तन के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालें।

(च) प्रमाण व नय के प्रयोजन व अन्तर को स्पष्ट करें।

इकाई- 3 जैन दर्शन का सिद्धान्त

3.1 प्रस्तावना

जैन दर्शन से सम्बन्धित यह तीसरी इकाई है। इससे पूर्व द्वितीय इकाई में आपने जैन ज्ञानमीमांसा की विस्तृत जानकारी प्राप्त की। जिसके आधार पर आप बता सकते हैं कि जैन की प्रमाण व्यवस्था कैसी है? इस पाठ में हम जैन दर्शन के सिद्धान्त से सम्बद्ध तत्त्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा के विभिन्न विषयों पर चर्चा करेंगे। जिसमें यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है कि इस जगत् की व्यवस्था जैन में किस प्रकार से स्वीकृत है साथ ही नैतिक मूल्यों तथा आचार व्यवहार के विषय मे इनकी क्या दृष्टि है?इस इकाई के अध्ययन के बाद आप द्रव्य के स्वरूप तथा जैन आचार-व्यवहार को समझा सकेंगे तथा अन्य दर्शनों के साथ इनकी स्थिति का सम्यक् विश्लेषण कर सकेंगे।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप

- बता सकेंगे कि जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा विषयक दृष्टि क्या है?
- समझ सकेंगे कि जैन दर्शन में जीव, अजीव, पुद्गल, कालादि व्यवस्था क्या है?
- जान पाएंगे कि इस दर्शन में जगत् की विविधता का निहितार्थ क्या है?
- समझ सकेंगे कि जैन दर्शन की आचारमीमांसा इस जगत् के कितनी अनुरूप हैं?

3.3 जैन-तत्त्व मीमांसा

तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत विश्व के मूलतत्त्व अर्थात् आदि कारण का अनुसन्धान किया जाता है। यदा कदा इसे सत्तामीमांसा भी कहा जाता है। जैन तत्त्वमीमांसा वास्तववादी और सापेक्षतावादी बहुत्ववाद है। इसे अनेकान्तवाद कहा जाता है। तत्त्व को अनन्तधर्मात्मक माना गया है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं- अनन्तधर्मात्मकं वस्तु। सत्ता की दृष्टि से इसे अनेकान्तवाद तथा ज्ञान की दृष्टि से स्याद्वाद कहा जाता है। अनेकान्तवाद का अर्थ है वस्तु का अनन्तधर्मात्मक होना। अनन्तधर्मात्मक का अर्थ है वस्तु में अनन्त गुण या अनन्त लक्षण होना। जैन दर्शन के अनुसार जिस आश्रय में धर्म होते हैं वह 'धर्मी' है तथा धर्मी की विशेषताएँ 'धर्म' है। जैन दर्शन में धर्मी के लिए 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग होता है। यह द्रव्य सत् है- सद् द्रव्यलक्षणम्। बल्कि तत्त्व एवं द्रव्य की तरह द्रव्य एवं सत् भी एकार्थक है क्योंकि सब एक हैं इसलिये सब सत् हैं- सर्वमेकम्, सद्विशेषाद्।

3.3.1 द्रव्य चिन्तन

द्रव्य में दो प्रकार के धर्म स्वीकार किये जाते हैं- स्वरूप धर्म और आगन्तुक धर्म। इस प्रकार द्रव्य वह

है जिसमें स्वरूप और आगन्तुक दोनों धर्म पाये जाते हैं। स्वरूप धर्म द्रव्य के अपरिवर्तनशील एवं नित्य धर्म हैं। इसके अभाव में द्रव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। आगन्तुक धर्म द्रव्य के परिवर्तनशील धर्म है। ये धर्म द्रव्य में आते-जाते रहते हैं। इनके बिना भी द्रव्य अस्तित्ववान् हो सकता है।

जैन दर्शन में स्वरूप धर्म को गुण कहा जाता है और आगन्तुक धर्म को पर्याय। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य वह है जिसमें गुण और पर्याय पाये जाते हैं- गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। जैन इस बात पर बल देते हैं कि द्र्रव्य और गुण को परस्पर पृथक् नहीं किया जा सकता।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य सत् है- सद्द्रव्यलक्षणम्। सत् वह है जिसकी उत्पत्ति एवं विनाश होता है तथा जिसमें स्थिरता होती है- उत्पादव्ययध्रौव्ययुतं सत्। द्रव्य गुण की दृष्टि से नित्य होता है, क्योंकि गुण उसके अपरिवर्तनशील धर्म हैं। पर्याय की दृष्टि से वह परिवर्तनशील और अस्थायी है। जैसे, घट में मृत्तिका अपरिवर्तनशील एवं नित्य तत्त्व है। इसकी तीन विशेषताएँ हैं- उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिति। द्रव्य की इन तीनों विशेषताओं में कोई विरोध भी नहीं है, क्योंकि गुण की दृष्टि से द्रव्य में एकता, सामान्यत्व एवं नित्यता की सिद्धि होती है और पर्याय की दृष्टि से अनेकता, विशेषत्व एवं अनित्यता की। इस प्रकार दृष्टि-भेद से वस्तु में एकता और अनेकता, सामान्यत्व एवं विशेषत्व, नित्यता एवं अनित्यता एक साथ रह सकते हैं।

3.3.2. द्रव्य के भेद

- जैन दर्शन में द्रव्य के दो भेद हैं- अस्तिकाय और नास्तिकाय। अस्तिकाय द्रव्य विस्तृत द्रव्य है। चूँकि इसकी सत्ता है (अस्ति) और काय या शरीर की भाँति आकाश में विस्तृत है, इसलिए इसे अस्तिकाय द्रव्य कहते हैं। यह बहुप्रदेशव्यापी द्रव्य है। अस्तिकाय द्रव्य के दो भेद हैं- जीव और अजीव। जीव चेतन द्रव्य है। अजीव अचेतन द्रव्य है। अजीव के चार भेद हैं- पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म। नास्तिकाय विस्ताररहित द्रव्य है। यह एक प्रदेशव्यापी है। काल ही एकमात्र नास्तिकाय द्रव्य है। द्रव्य का संक्षिप्त वर्गीकरण अग्रांकित है-

द्रव्यअस्तिकाय नास्तिकाय (काल)

जीव अजीव

पुद्गल आकाश धर्म अधर्म

3.3.2.1 जीवद्रव्य-

जैन दर्शन के प्रवर्तक आचार्यों के मत में जीव नित्य चेतन तथा अभौतिक तत्त्व है। जैन दर्शन में जीव

शरीर एवं इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न एक चेतन सत्ता है। यहॉं जीव एक द्रव्य है और चेतना उसका स्वरूप या नित्य धर्म है। चेतना के अभाव में जीव का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

जैन दर्शन के अनुसार चेतना कभी नष्ट नहीं होती। यहाँ जैन दर्शन का आत्मा सम्बन्धी विचार न्याय-वैशेषिक दर्शन के विचारों से भिन्न है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में चेतना आत्मा का आगन्तुक गुण है। यह आत्मा एक अचेतन द्रव्य है जो विशेष अवस्थाओं में चैतन्य का आधार बनता है। किन्तु जैन दर्शन आत्मा को नित्य धर्म मानता है। उसके अभाव में आत्मा की सत्ता असम्भव है। जैन दर्शन यह भी कहता है कि जीव में कुछ आगन्तुक धर्म भी होते हैं जो उसमें आते-जाते रहते हैं। सुख, दुःख इच्छा, संकल्प, आदि जीव के आगन्तुक धर्म हैं।

जैन दर्शन में जीव का एक अन्य लक्षण भी प्राप्त होता है। उमास्वामी के अनुसार, जीव का लक्षण उपयोग है- उपयोगलक्षणो जीवः।

जैन दर्शन के अनुसार जीव स्वभावतः पूर्ण है। उसमें 'अनन्तचतुष्टय' अर्थात् चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती हैं। ये हैं- अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द। जीव के ये स्वाभाविक धर्म केवल मुक्त जीवों में अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु कर्मफल से सम्पृक्त होने के कारण सांसारिक जीवों में, जो बन्धनग्रस्त हैं, अनन्तचतुष्टय की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

जैनदर्शन चेतना की अभिव्यक्ति के आधार पर जीवों का वर्गीकरण करता है। वह सर्वप्रथम जीव के दो भेद करता है- मुक्त और बद्ध। मुक्त जीवों में जीव के स्वाभाविक स्वरूप का पूर्ण प्रकाशन होता है। बद्ध जीव वे हैं जो अब भी कर्म पुद्गलों से अक्रान्त हैं। जैन दर्शन बद्ध जीवों के दो भेद करता है- त्रस और स्थावर। त्रस जीव गतिमानं हैं और स्थावर जीवों में गति नहीं होती। स्थावर जीवों में जीव के स्वरूप की न्यूनतम अभिव्यक्ति होती है। इनके पाँच प्रकार है- पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, तेजकायिक और वनस्पतिकायिक। इनमें केवल एक इन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय पायी जाती है। त्रस जीवों में स्थावर जीवों की अपेक्षा चेतना अधिक विकसित होती है। चैतन्य की अभिव्यक्ति की दृष्टि से त्रस जीवों के चार भेद होते हैं-

(1) द्वीन्द्रिय जीव- इन जीवों को स्पर्शेन्द्रिय एंव रसनेन्द्रिय, दो इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। जैसे, सीप, बिना पैरों वाले कीट और घोंघा।

(2) त्रीन्द्रिय जीव- जिनके इन दो के साथ घ्राणेन्द्रियॉं भी हैं त्राीन्द्रिय कहलाती हैं। जैसे- जूॅं, खटमल, पिपीलिका आदि।

(3) चतुरिन्द्रिय जीव- इन जीवों में स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षुः ये चार इन्द्रियाँ पायी जाती हैं । जैसे- भ्रमर, मक्खी आदि।

(4) पंचेन्द्रिय जीव- इन जीवों में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों होती हैं। जैसे- मनुष्य, पशु, पक्षी आदि।

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य भी प्रकाश में आता है कि जैन दर्शन अनेकजीववाद में विश्वास करता है। जैन दर्शन का यह विचार सांख्य दर्शन के 'पुरुषबहुत्व की अवधारणा' के नजदीक है।

जैन दर्शन जीव के विषय में मध्यमपरिमाणवाद का प्रतिपादन करता है। यह भारतीय दर्शन में एक विचित्र सिद्धान्त है। इसके अनुसार जीव का परिमाण मध्यम आकार का है। यह सांसारिक अवस्था में जीव के परिमाण को घटने-बढ़ने वाला मानता है। यह आत्मा के परिमाण के विषय में विभुवाद और अणुवाद का मध्यवर्ती सिद्धान्त है। भारतीय दर्शन में न्याय एवं अद्वैत वेदान्त, आदि विचारधाराएँ आत्मा को 'विभु-परिमाण' मानती हैं। इसके विपरीत वैष्णव विचारधाराएँ उसे 'अणु-परिमाण' मानती हैं। इन दोनों सिद्धान्तों के विपरीत जैन दार्शनिक उसे 'मध्यम-परिमाण' मानते हैं। वे उसे शरीरपरिमाणी कहते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार जीव में विस्तार है, उसमें विस्तार और संकोच की संभावना रहती है। जीव जिस भौतिक शरीर से सम्बद्ध होता है, उसकी लम्बाई- चौड़ाई के अनुरूप उसका विस्तार और संकोच होता है। माता के गर्भ में शिशु लघु आकार का होता है और शरीरविस्तार के साथ उसका आकार बढ़ता रहता है। जब जीव मनुष्ययोनि में होता है तो उसका परिमाण मानवशरीर के तुल्य होता है। जब वही जीव अपने कर्मानुसार हाथी या चींटी के शरीर में प्रवेश करता है तब उसका परिमाण हाथी या चींटी के परिमाण के समान हो जाता है। अर्थात् जीव न तो विभु है और न अणु, अपि तु वह शरीरपरिमाणी है। जैन के अनुसार जिस प्रकार एक ही कमरे को दो दीपक आलोकित कर सकते हैं उसी प्रकार एक ही शरीर में एकाधिक जीव भी अस्तित्ववान् हो सकते हैं।

3.3.2.2 जीव के अस्तित्व के लिए प्रमाण-

जैन दर्शन में निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर जीव या आत्मा की सत्ता सिद्ध की जाती है-

(1) सुख, दुःख इच्छा, संकल्प आदि गुणों का हमें अनुभव होता है। चूँकि गुण बिना गुणी के नहीं रह सकते। अतः इन गुणों के अस्तित्व के लिए भी किसी द्रव्य का होना आवश्यक है। ये द्रव्य ही आत्मा हैं।

(2) शरीर यन्त्रवत् है। जिस प्रकार किसी यन्त्र को संचालित करने के लिए एक चालक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार शरीर जो जड़ है उसे संचालित होने के लिए भी एक चालक की आवश्यकता है। वह चालक ही आत्मा है।

(3) हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के साधनमात्र हैं। यह ज्ञान स्वयं ज्ञानेन्द्रियां को या शरीर को नहीं प्राप्त होता। इन साधनों से ज्ञान प्राप्त करने वाला आत्मा है।

(4) शरीर के निर्माण के लिए आत्मा की सत्ता आवश्यक है। शरीर का निर्माण पुद्गलकणों से होता है। ये पुद्गलकण अचेतन हैं। अतः इनसे स्वतः शरीर का निर्माण नहीं हो सकता। शरीर का आकार प्राप्त करने के लिये इन्हें एक निमित्त कारण की आवश्यकता है। यह निमित्त कारण आत्मा या जीव है।

3.3.3 अजीव-द्रव्य-

जैन दर्शन में अजीव अचेतन या जड़ द्रव्य है। जिसे सुख दुःख की अनुभूति नहीं होती वह अजीव द्रव्य है। जीव की तरह अजीव भी अस्तिकाय द्रव्य है। ये अजीव द्रव्य चार प्रकार के हैं- पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म।

3.3.3.1 पुद्गल-

संघटन तथा विघटन के द्वारा परिणाम को प्राप्त करने वाले अजीव द्रव्य का नाम पुद्गल है। जैन दर्शन में पुद्गल जड़ तत्त्व या भौतिक तत्त्व है। तत्त्व रूप में पुद्गल का प्रयोग बौद्ध दर्शन में भी हुआ है वहाँ यह शब्द जीव के लिए आया है। यह विश्व का भौतिक आधार है। व्युत्पत्ति के अनुसार, पुद्गल का अर्थ है पूरयन्ति गलयन्ति च। अर्थात् जो द्रव्य पूरण और गलण के द्वारा विविध प्रकार से परिवर्तित होता है वह पुद्गल है- गलनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः।

पुद्गल के दो प्रकार हैं- अणुरूप और स्कन्धरूप। पुद्गल के विभाजन की अन्तिम एवं सूक्ष्मतम अवस्था, जो पुनः अविभाज्य हो, गुण कहलाती है। अणु अविभाज्य होने के कारण निरवयव होता है। इसका आदि, अन्त एवं मध्य कुछ भी नहीं होता। यह सूक्ष्मतम, अविभाज्य, निरवयव, निरपेक्ष एवं नित्य सत्ता है। इसका न तो निर्माण होता है और न विनाश। वह स्वयं अमूर्त है। यह अमूर्त होते हुए भी सभी मूर्त वस्तुओं का आधार है। जैन दर्शन के अनुसार अणुओं में रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श गुण होते हैं। ये गुण नित्य या स्थायी नहीं हैं। अणुओं के ये गुण उनके संघातों में भी पाये जाते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार अणु पुद्गलों के संघात से स्कन्ध पुद्गलों का निर्माण होता है। जैन दर्शन की सृष्टिमीमांसा में विश्व का ढाँचा परमाणुओं से निर्मित मान जाता है। सभी भौतिक पदार्थ, जो इन्द्रियों से जाने जाते हैं, जिनमें जीवों के शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन भी शामिल हैं, अणुओं से निर्मित हैं। दो या अधिक अणुओं के संयोग से स्कन्ध या संघात पुद्गल उत्पन्न होते हैं। अणुओं में आकर्षणशक्ति होती है जिससे अणुओं में संयोग पर विभाग होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु स्कन्ध पुद्गल हैं और सम्पूर्ण जगत् इन्हीं स्कन्धों से निर्मित है। प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ एक स्कन्ध है और भौतिक जगत् स्कन्धों का समूह है। भौतिक जगत् में दिखाई देने वाले परिवर्तन अणुओं के संयोग और

विभाग से उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में, अणुपुद्गल अदृश्य हैं, अनुमानगम्य हैं, किन्तु स्कन्ध पुद्गल दृष्टिगोचर हैं। अणु पुद्गल कारणरूप हैं और स्कन्ध पुद्गल कार्यरूप।

भारतीय दर्शन मंे अणुवादी कल्पना वैशेषिक दर्शन में भी प्राप्त होती है। जैन एवं वैशेषिक अणुवाद

में कुछ समानताएँ हैं। दोनों अणुओं को अविभाज्य, निरवयव, नित्य, अदृश्य तथा भौतिक जगत् का उपादान कारण मानते हैं। दोनों दर्शनों के अणुवादी विचारों में कुछ मतभेद भी हैं। जैसे, जैन दार्शनिक अणुओं में केवल परिमाणात्मक भेद मानते हैं, किन्तु वैशेषिक दार्शनिक अणुओं में परिमाणात्मक और गुणात्मक दोनों भेद स्वीकार करते हैं। जैन दार्शनिक अणुओं के गुणों को नित्य नहीं मानते, किन्तु वैशेषिक इनके गुणों को भी नित्य मानते हैं। जैन के परमाणुवाद पर टिप्पणी करते हुए डॉ0 हरमन जैकोबी का कहना है कि हम जैनों को प्रथम स्थान देते हैं क्योंकि उन्होंने पुद्गल के सम्बन्ध में अतीव प्राचीन मतों के आधार पर ही अपनी पद्धति (परमाणुवाद) को स्थापित किया है।

3.3.3.2 आकाश-

जैन दर्शन में आकाश वह अस्तिकाय द्रव्य है जिसमें अन्य अस्तिकाय द्रव्य, जीव एवं अजीव विस्तृत हैं तथा यह रूपादिरहित, अमूर्त, निष्क्रिय तथा सर्वव्यापक है। आकाश स्वतः न गति की अवस्था में है और न स्थिरता की अवस्था में। उल्लेखनीय है कि विस्तृत होना अस्तिकाय द्रव्यों का धर्म है, किन्तु उनका विस्तार आकाश में ही सम्भव है। यह भी सत्य है कि आकाश विस्तारहीन पदार्थों को विस्तृत नहीं कर सकता, किन्तु विस्तृत पदार्थों का विस्तार आकाश के अभाव में सम्भव नहीं है। आकाश अनन्त है। आकाश- प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। उसका ज्ञान अनुमान से होता है। जैन दर्शन अस्तिकाय द्रव्यों के विस्तार हेतु आकाश का अनुमान करता है।

इस आकाश के दो भेद हैं- लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में ही गति सम्भव है। सभी अस्तिकाय द्रव्य लोकाकाश में ही विस्तृत हैं। अलोकाकाश शून्य आकाश है। यह अनन्त तक विस्तृत है। इसमें गति का अभाव है।

3.3.3.3 धर्म और अधर्म-

जैन दर्शन में धर्म एवं अधर्म का शाब्दिक अर्थ न तो शुभ और अशुभ कर्म हैं, न पुण्य और पाप तथा न गुण और पर्याय रूप धर्म। यहाँ ये शब्द तकनीकी और पारिभाषिक अर्थ में स्वीकार किये जाते हैं। जैन दर्शन संसार में गति एवं स्थिति के लिए क्रमशः धर्म और अधर्म की सत्ता स्वीकार करता है। ये दोनों जीव और पुद्गल की क्रमशः गति और स्थिति के सहायक कारण हैं। धर्म गति का आधार है। धर्म स्वयं गति नहीं है और न यह जीव और पुद्गलादि द्रव्यों को गति प्रदान करता है। किन्तु इन द्रव्यों में जो गति दिखाई देती है वह धर्म के कारण ही होती है। धर्म उनकी गति में केवल सहायक होता है।

जैसे, मछली पानी में तैरती है। पानी मछली को न तो गति प्रदान करता है और न उन्हें गति करने के लिए प्रेरित करता है, अपितु वह उसके तैरने के लिए आधार देता है। उसी प्रकार धर्म जीवादि द्रव्यों की गति का आधार है। इसी प्रकार अधर्म न तो स्वयं स्थिति है और न वह जीवादि द्रव्यों को स्थिति प्रदान करता है। वह केवल जीव, पुद्गलादि द्रव्यों की स्थिति का आधार है।

धर्म एवं अधर्म में परस्पर विरोध के अतिरिक्त कतिपय समानताएँ भी हैं। ये दोनों क्रमशः गति एवं स्थिति के उदासीन कारण है। इन दोनों का ज्ञान अनुमान से ही होता है। गति के कारण के रूप में धर्म का और स्थिति के कारण के रूप में अधर्म का अनुमान किया जाता है। दोनों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणों का अभाव है। दोनों नित्य एवं अमूर्त हैं।

3.3.3.4 काल-

परिवर्तन का जो कारण है उसे काल कहते हैं। यह एक अनस्तिकाय द्रव्य है। इसका अस्तित्व तो है, किन्तु इसमें कायत्व या विस्तार नहीं है। काल की सत्ता भी अनुमान से ही सिद्ध होती है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व, ज्येष्ठ और कनिष्ठ आदि विचारों की सार्थकता के लिए काल की सत्ता का अनुमान किया जाता है। काल न हो तो उक्त अवधारणाएँ सम्भव नहीं हैं। भिन्न-भिन्न क्षणों में वर्तमान रहना वर्तना है। अवस्थाओं में परिवर्तन परिणाम है। क्रिया अथवा गति भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को धारण करना है। इनके लिए काल का होना आवश्यक है। इसी प्रकार पूर्व तथा पश्चात् के भेद, ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ के भेद की सम्भावना भी काल के कारण है। इनकी सम्भावना के लिए ही काल की सत्ता का अनुमान करते हैं। समस्त विश्व में एक ही काल व्याप्त है।

काल के भेद- काल के दो भेद हैं- पारमार्थिक काल और व्यावहारिक काल। वर्त्तना पारमार्थिक काल के कारण होती है। यह सदैव वर्तमान काल में ही रहती है। इसमें भूत्, वर्तमान एवं भविष्यत् का विभाजन नहीं होता। व्यावहारिक काल को 'समय' भी कहते हैं। वर्त्तना के अतिरिक्त अन्य परिवर्तन व्यावहारिक काल के कारण होते हैं। वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिन, घंटा, मिनट, सेकण्ड, पल, क्षण आदि व्यावहारिक काल के उदाहरण हैं। पारमार्थिक काल अनादि और अनन्त है, किन्तु व्यावहारिक काल सादि और सान्त है।

संक्षेप में, जैन दर्शन की स्थापना निम्न प्रकार की है। दर्शन की सभी प्रणालियॉ सत् या वास्तविकता के स्वरूप की व्याख्या करने के प्रयास में किसी एक विशेष विकल्प से जुड़ी रहती हैं। उनका हठधर्मितापूर्ण दावा होता है कि केवल उन्हीं का विकल्प सच्चा विकल्प है जब कि अन्य प्रणालियों की धारणाए तार्किकता पर खरी नहीं उतरतीं और इसलिये उन्हें अस्वीकार किया जाना चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार एक ही विकल्प को पकड़े रहना उचित नहीं है। संसार बहुलता युक्त है। यहॉ तक कि एक अकेली वस्तु भी अनेकधर्मी होती है। वस्तुओं को अनेक दृष्टिकाणों से देखा जा सकता है। प्रत्येक दृष्टिकोण से भिन्न निष्कर्ष निकलता है। किन्तु ऐसे प्रत्येक निष्कर्ष में मात्र आंशिक सत्य

होगा। परम स्वीकार या परम निषेध, दोनों ही भ्रमपूर्ण हैं। प्रत्येक स्थापना सशर्त होती है। कोई भी स्वीकृति या निषेध किसी विशिष्ट स्थिति में ही सत्य हो सकता है, यह अपने आपमें सत्य नहीं हो सकता।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन दर्शन में सत् का लक्षण है-

(क) उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त होना (ख) कूटस्थ नित्य होना

(ग) त्रिकालातीत होना (घ) जैसा है वैसा ही होना

2. जैन दर्शन में पुद्गल है-

(क) जीव द्रव्य (ख) अजीव द्रव्य

(ग) द्रव्य का धर्म (घ) नित्य द्रव्य

3. जैन दर्शन में जीव का स्वरूप है-

(क) अनस्तिकाय (ख) मध्यम परिमाण

(ग) एकमात्र सत्य (घ) इनमें से कोई नहीं

4. निम्नलिखित में गति का आधार है-

(क) जीव (ख) अजीव

(ग) अधर्म (घ) धर्म

5. निम्नलिखित में से अनस्तिकाय द्र्रव्य है-

(क) पुद्गल (ख) धर्म

(ग) काल (घ) अधर्म

6. निम्नलिखित में से कौन असत्य है-

(क) जैन दर्शन में अजीव अचेतन द्रव्य है।

(ख) जिसे सुख दुःख की अनुभूति होती है वह अजीव द्रव्य है।

(ग) जीव की तरह अजीव भी अस्तिकाय द्रव्य है।

(घ) धर्म अजीव द्रव्य है।

3.4 जैन आचारमीमांसा

अन्य भारतीय दर्शनों की भॉति जैन दर्शन की भी अपनी आचार मीमांसा है। यह आचार मीमांसा

इनके मोक्ष ज्ञान की परिधि में स्थिर है। ऐसे में इस दर्शन में मोक्ष साधना के क्रम में आचार की शुद्धता का विशेष महत्त्व है। बन्धन से छुटकारा मोक्ष है- यह जानते हुये मोक्ष की अवधारणा से पूर्व बन्धन को जानना आवश्यक है।

बन्धन का स्वरूप- जैन दर्शन में बन्धन एवं मोक्ष का प्रश्न जीव या आत्मा के विषय में उठता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव एक द्रव्य है और चेतना उसका लक्षण है। जीव स्वभावतः पूर्ण एवं मुक्त है। उसमें 'अनन्तचतुष्टय' अर्थात् चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती हैं। ये हैं-अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य एवं अनन्त आनन्द। जीव के ये स्वाभाविक धर्म केवल मुक्त जीवों में अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु कर्मफल से सम्पृक्त होने के कारण सांसारिक जीवों में, जो बन्धनग्रस्त हैं, अनन्तचतुष्टय की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। उल्लेखनीय है कि बन्धनग्रस्त अवस्था में भी जीव के ये लक्षण केवल तिरोहित होते हैं, नष्ट नहीं होते। कर्मजन्य बाधाओं के दूर हो जाने पर ये स्वाभाविक धर्म जीव में पुनः प्रकट हो जाते हैं। जैसे, सूर्य सम्पूर्ण जगत् को आलोकित करता है, किन्तु मेघ और तुषार, आदि के आवरण के कारण वह संसार को प्रकाशित नहीं कर पाता। जब इनसे उत्पन्न आवरण दूर हो जाता है तब वह संसार को पुनः प्रकाशित करता है। वैसे ही जीव भी स्वभावतः पूर्ण है और 'अनन्तचतुष्टय' से युक्त है, किन्तु बन्धन ग्रस्त होने के कारण उसके स्वाभाविक स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। जब वह मुक्त हो जाता है तब वह अपनी स्वाभाविक पूर्णता को पुनः प्राप्त कर लेता है।

जैन दर्शन के अनुसार बन्धन का अर्थ है, 'जन्म ग्रहण करना', 'जीव का शरीर से सम्बन्ध होना'। जीव और कर्मपुद्गलों का संयोग होना बन्धन है। शरीर धारण करने से या कर्म पुद्गलों से संयोग होने के कारण जीव की स्वाभाविक पूर्णता तिरोहित हो जाती है और उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म ही बन्धन का कारण है। जैन दर्शन में कर्म की अवधारणा अत्यन्त विलक्षण है। भारतीय दर्शन की अन्य प्रणालियों में कर्म का तात्पर्य अच्छे बुरे कार्यों और करनेवाले के लिये उनके अच्छे या बुरे परिणामों से होता है। किन्तु जैन दर्शन में कर्म मूलतः भौतिक एवं

पौद्गलिक है जो जीव से उसी प्रकार संलग्न हो सकता है जिस प्रकार किसी चिपचिपे पदार्थ से मैल चिपक जाती है। कर्म का तात्पर्य पदार्थ के उन सूक्ष्म कणों से है जो जीव को बॉंधते हैं। कर्म जीव से संयुक्त होकर उसके स्वरूप की दूषित कर देता है जिसके कारण जीव अपनी शुद्धता से च्युत होकर बन्धन की अवस्था में आ जाता है।

जैन दर्शन में कर्म की महती भूमिका है। जीव की सम्पूर्ण शारीरिक विशेषताएँ कर्मजन्य मानी जाती है। ये कर्म आठ प्रकार के हैं-

ज्ञानावरणीय कर्म- ज्ञान का नष्ट करने वाले कर्म।

दर्शनावरणीय कर्म-विश्वास का नष्ट करने वाले कर्म।

मोहनीय कर्म- अज्ञान या मोह पैदा करने वाले कर्म।

वेदनीय कर्म- सुख या दुःख की अनुभूति पैदा करने वाले कर्म। गोत्र कर्म- गोत्र को निर्धारित करने वाले कर्म।

आयुष्कर्म- जीव की आयु का निर्धारण करने वाले कर्म।

नाम कर्म- वह कर्म, जिससे व्यक्ति के नाम का निश्चय होता है और अन्तराय कर्म- बाधाएँ पैदा करने वाले कर्म।

कर्म जीव के अन्दर प्रविष्ट होकर उसे जन्म लेने के लिए बाध्य करता है। जीव के अतीत कर्मों से जीव में वासनाएँ पैदा होती है। वासनाएँ तृप्त होना चाहती हैं, परिणामस्वरूप वे पुद्गलों को अपनी ओर आकृष्ट करके जीव को शरीर से सम्बद्ध कर देती हैं।

जैन दर्शन भी अन्य भारतीय विचारधाराओं के समान अविद्या को बन्धन का कारण मानता है। अविद्या के कारण उसका वास्तविक स्वरूप तो अवरुद्ध होता ही है, उसमें मिथ्या दर्शन भी उत्पन्न होता है, परिणामस्वरूप उसमें अविरति एवं प्रमाद आता है। अपने स्वाभाविक स्वरूप के ज्ञान एवं शुभ-अशुभ के विषय में उदासीनता ही क्रमशः अविरति एवं प्रमाद है। जीव में अविरति एवं प्रमाद से क्रोध, मान, माया, लोभ कुप्रवृत्तियाँ पैदा होती हैं। इन्हें कषाय कहते हैं। ये कषाय योग द्वारा कर्मपुद्गल को जीव से संयुक्त करते हैं। जैन दर्शन में योग का प्रयोग कायिक, वाचिक एवं मानसिक स्पन्दनों के लिए होता है। इनके द्वारा जीव की ओर कर्मपुद्गल आकर्षित होते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग बन्धन के कारण है।

जीव की ओर कर्म पुद्गलों का प्रवाह 'आस्रव' कहलाता है। आस्रव बन्धन का कारण है, क्योंकि आस्रव के अभाव में कर्मपुद्गल जीव में प्रवेश नहीं कर सकते। आस्रव के दो भेद हैं- भावास्रव और द्रव्यास्रव। जीव में कर्मपुद्गलों के प्रवेश के पूर्व जीव के भावों में परिवर्तन होता है जिसे 'भावास्रव' कहते हैं। इसके बाद जीव में कर्म पुद्गलों का प्रवेश हो जाना 'द्रव्यास्रव' है। जिस प्रकार तेल से लिप्त शरीर पर धूलराशि चिपक कर जमा हो जाती है उसी प्रकार कर्मपुद्गल जीव पर चिपक जाते हैं। तेल से लिप्त होना भावास्रव और उस पर धूलराशि का चिपक जाना द्रव्यास्रव है।

इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार कषायों के कारण कर्मानुसार जीव का पुद्गल से आक्रान्त हो जाना ही बन्धन है। बन्धन के भी दो भेद प्राप्त होते हैं- भावबन्ध और द्रव्यबन्ध। जीव में कर्मपुद्गलों के प्रवेश के पूर्व उसमें भावास्रव उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् जीव का जो बन्धन होता है, वह भावबन्ध है। इसके बाद कर्मपुद्गलों का प्रवेश होने पर जीव में द्रव्यास्रव उत्पन्न होता है। उसके बाद जीव का जो बन्धन होता है उसे द्रव्यबन्ध कहते हैं।

जीव का कर्मपुद्गलों से वियोग मोक्ष है। कर्मपुद्गलों से जीव का वियोग होने के लिए दो चीजें आवश्यक हैं- नये कर्मपुद्गलों का जीव की ओर आस्रव बन्द हो जाय और जीव में प्रविष्ट हुए पुराने कर्मपुद्गलों का विनाश हो जाय। इनमें से प्रथम अवस्था संवर है और द्वितीय अवस्था निर्जरा है। संवर से नये कर्मपुद्गलों का जीवात्मा में प्रवेश करना निरुद्ध हो जाता है। संवर के दो भेद प्राप्त होते हैं- भावसंवर और द्रव्यसंवर। भावसंवर द्रव्यसंवर की पूर्ववती अवस्था है जिसमें जीव के राग-द्वेष मोहरूप विकारों का निरोध होता है। द्रव्यसंवर में जीवात्मा में नये कर्मपुद्गलों का प्रवेश निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार संवर में जीव राग, द्वेष, मोह, आदि विकारों से रहित हो जाता है जिससे उसमें नये कर्मपुद्गलों का प्रवेश तथा उससे होने वाला बन्धन रुक जाता है।

संवर की अवस्था में जीवात्मा में नये कर्मपुद्गलों का प्रवेश तो बन्द हो जाता है, किन्तु आत्मा में पहले से ही प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलांे का निरोध संवर से नहीं होता। अतः केवल संवर से ही जीवात्मा कर्मपुद्गलों से छुटकारा नहीं प्राप्त कर पाता। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि जीवात्मा में पहले से प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गल भी नष्ट हो जाय। जीवात्मा में पहले से ही प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलों का विनाश निर्जरा है। निर्जरा के भी दो भेद हैं- भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा। साधक में भाव-निर्जरा में कर्मों का नाश करने की भावना उत्पन्न होती है। द्रव्य-निर्जरा में आत्मा में प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलों का वास्तविक नाश होता है। इसमें दर्शन, ज्ञान एवं चरित्र के अभ्यास से जीवात्मा में प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलों का विनाश किया जाता है। जब कर्मपुद्गल का अन्तिम कण भी जीवात्मा से पृथक् हो जाता है तब वह अपनी स्वाभाविक पूर्णता को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष की अवस्था है। इस प्रकार जीव के सभी कर्मों का क्षय मोक्ष है- कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। मोक्ष अभावात्मक अवस्था नहीं है। वह एक

भावात्मक अवस्था है। इसमें केवल दुःखनिवृत्ति ही नहीं होती, अपितु वह इसमें अपनी स्वाभाविक पूर्णता अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द को भी प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मोक्ष अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान की भी अवस्था है।

सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र, मोक्ष के मार्ग माने जाते हैं। जैन दर्शन की मोक्षमीमांसा में इन तीनों का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि तीनों सम्मिलित रूप से मोक्ष के साधन हैं। इसलिए जैन दार्शनिक इन्हें 'त्रिरत्न' कहते हैं। इन तीनों साधनों का पृथक्-पृथक् वर्णन अग्रांकित है-

सम्यक् दर्शन- जैन दर्शन के धर्म एवं इसके तीर्थकरों के उपदेशों में दृढ़ विश्वास सम्यक् दर्शन है। इसकी आवश्यकता संशय के निवारण के लिए होती है। सम्यक् दर्शन का उदय दर्शनावरणीय कर्मों के विनाश से होता है।

सम्यक् ज्ञान- जैन धर्म एवं दर्शन के सिद्धान्तों का ज्ञान सम्यक् दर्शन है। इसमें जीव और अजीव के मूल तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान होता है। यह तत्त्वों का असन्दिग्ध एवं दोषरहित ज्ञान है। ज्ञानावरणीय कर्मों के विनाश से सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है।

सम्यक् चरित्र- सम्यक् ज्ञान को कर्म में परिणत करना सम्यक् चरित्र है। अहितकारी कर्मां का परित्याग और हितकारी कर्मां का आचरण ही सम्यक् चरित्र है। यह जैन साधना का सबसे महत्वपूर्ण अंग है, क्योंकि मनुष्य सम्यक् कर्म से ही कर्ममुक्त होकर जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह, इन पाँच व्रतों के पालन का उपदेश है। जैन दर्शन में इन व्रतों के दो रूप हैं- 'महाव्रत' और 'अणुव्रत'। महाव्रत का विधान जैन संन्यासियों के लिए है और अणुव्रत का विधान गृहस्थों के लिए।

अहिंसा- जैन साधना के पंचव्रतों में अंहिसा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ऐसा माना जाता है कि भारत में अहिंसा के सिद्धान्त का प्रथम उद्घोष जैन ने ही किया था। अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है, मन, वाणी और कर्म, तीनों से होने वाली हिंसा का परित्याग। जैन दर्शन में अहिंसा का अर्थ केवल दूसरों को हानि पहुँचाने से बचना ही नहीं है, अपितु उनके उपकार में सचेष्ट रहना भी है।

सत्य- इसका अर्थ है, 'असत्य वचन का परित्याग'। इस व्रत का पालन करने के लिए मनुष्य को भय, लोभ एवं परनिन्दा की प्रवृत्ति से दूर रहना चाहिए।

अस्तेय- चौरवृत्ति का वर्जन अस्तेय है। जैन दर्शन के अनुसार बिना दिये पर द्रव्य का ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैन दर्शन के जीवन की भाँति उसकी सम्पत्ति को भी अत्यन्त पवित्र मानता है। वे इसे व्यक्ति का बाह्य जीवन कहते हैं। इस प्रकार वे परद्रव्य ग्रहण को भी जीव-हिंसा ही मानते हैं।

ब्रह्मचर्य- जैन दर्शन वासनाओं के परित्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह केवल इन्द्रिय-सुख का परित्याग नहीं है, अपितु सभी कामनाओं का परित्याग है।

अपरिग्रह- विषयासक्ति का परित्याग अपरिग्रह है। जैन दर्शन के अनुसार मुमुक्षु को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन विषयों का परित्याग करना चाहिए। जैन संन्यासी से पूर्ण अपरिग्रह की अपेक्षा की गयी है। वह किसी भी वस्तु को, भिक्षापात्र को भी अपना नहीं कह सकता।

जैन दर्शन के अनुसार जीव सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का अनुसरण करते हुए समस्त कर्मबाधाओं को दूर करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

जैन दर्शन की विशेषता उसका व्यावहारिक उपदेश है। किन्तु इसके द्वारा बतायी गयी साधना अत्यन्त कठोर है। अपनी कठोरता के कारण ही यह सामान्य जन का धर्म नही बन सका। इसके द्वारा साधुओं के लिए बतायी गयी साधना तो कठोर है ही, गृहस्थों के लिए निर्धारित की गयी साधना भी अपेक्षाकृत कठोर है। यह अपनी कठोरता के कारण मुनियों का ही धर्म बन कर रह गया। जैन दर्शन द्वारा महाव्रत एवं अणुव्रत के रूप में आचार-पद्धति का विभाजन कृत्रिम है। इससे जैन धर्म और अधिक अव्यावहारिक हो गया।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन दर्शन में मोक्ष है

(क) आवागमन से मुक्ति (ख) दिये का बुझना

(ग) जीव का कर्मपुद्गलों से वियोग (घ) परमात्मा की प्राप्ति

2. जैन दर्शन में कर्म है

(क) लक्ष्य प्राप्त करने का कारण (ख) अर्हत् पद प्राप्त करने का करण

(ग) बन्धन का कारण (घ) जैन दर्शन में प्रवृत्त होना

3. बाधाएँ पैदा करने वाले कर्म हैं-

(क) नाम कर्म (ख) अन्तराय कर्म

(ग) मोहनीय कर्म (घ) आयुष्कर्म

4. जीव की ओर कर्म पुद्गलों का प्रवाह -------- कहलाता है।

5. जीव और कर्मपुद्गलों का संयोग होना -------- है।

3.5 सारांश

इस इकाई को पढने के बाद आप यह जान चुके हैं कि जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा में द्रव्य की विशिष्ट अवधारणा है। जीव एवं अजीव इन दो भागों में विभाजित द्रव्य विश्व के अणु से अणुतम एवं महान से महत्तम तत्त्वों की व्याख्या में पूर्णतया सक्षम हैं।

इसी प्रकार इनकी आचारमीमांसा जिस प्रकार कर्मबन्ष्?धन एवं मोक्ष की तार्किक व्याख्या प्रस्तुत करती है वह विश्व दर्शन चिन्तन परम्परा में सर्वथा अनूठा है। इसी क्रम में संन्यासी एवं गृहस्थों की

आचार पद्धति का भी यहाँ चिन्तन प्राप्त होता है। जैन दार्शनिक स्पष्ट रूप से साधु एवं गृहस्थ की आचार पद्धति की व्याख्या करते हैं किन्तु दानों के लिये यह पद्धति अत्यन्त कठोर है।

अस्तु, इस इकाई के अध्ययन से आप तत्त्वमीमांसा एवं आचारमीमांसा के अनुशीलन से इस वस्तुवादी एवं बहुत्ववादी दर्शन के सार्वभौमिक चिन्तन को अत्यन्त सहजता से समझ कर अपने ज्ञान को अभिव्यक्त कर पाएंगे।

इस इकाई के अध्येयन से आप कार्व्यानुशीलन द्वारा सहज ही प्राप्ता होने वाले फलों और उपादानों की अनुभूति को अभिव्य क्तय कर सकेंगे।

3.6 शब्दावली

सापेक्षतावादी- यह चिन्तन की एक ऐसी विधा है जिसमें चिन्तक जगत् के किसी भी वस्तु की सत्ता का निषेध नहीं करते बल्कि किसी भी वस्तु की सत्ता अथ वा सत्यता का निर्धारण किसी भिन्न वस्तु की अपेक्षा करते हैं।

अनन्तधर्मात्मक- जैन दर्शन में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक कहा गया है क्योंकि इस लोक में अनेक वस्तुए हैं तथा प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते हैं- अनन्तधर्मकं वस्तु।

पुरुष बहुत्व- सांख्य दर्शन में अनेक पुरुष की अवधारणा है। इसी लिये उसमें पुरुष बहुत्व की अवधारणा प्रस्तुत की गयी है। सांख्य के अनुसार प्रकृति के अतिरिक्त पुरुष दूसरा मूल तत्व है।

अस्तिकाय- अस्तिकाय का अर्थ है विस्तार युक्त, सत्तायुक्त होने से यह अस्ति है तथा शरीर के समान विस्तारयुक्त होने के कारण यह काय कहलाता है।

अनस्तिकाय- अस्तिकाय का विपरीत अनस्तिकाय होता हैं। इसका सामान्य अर्थ है एकदेशव्यापी होना। जैन दर्शन में काल एकमात्र एकदेशव्यापी द्रव्य है।

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.3 1. क, 2. ख, 3. ख, 4. घ, 5. ग, 6. ख

3.3. 1. ग 2. ग 3. ख 4. आस्रव 5. बन्धन

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,

2. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1
3. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
4. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ
5. पं0 सुखलाल, प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्र) (1939)
6. मेहता, मोहनलाल, जैन दर्शन, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, लाहामंडी, आगरा
7. उमा स्वामी, तत्वार्थाधिगम सूत्र (सुखलाल संघवी कृत विवेचन), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5
8. मिश्र, पंकज कुमार (1998), वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप, परिमल पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर दिल्ली।

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

(क) जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत करें।

(ख) जैन दर्शन धर्म एवं अधर्म की तुलना करते हुए इनकी विशेषता पर प्रकाश डालें।

(ग) जैन आचार मीमांसा के वैशिष्ट्य पर एक विस्तृत निबन्ध लिखें।

(घ) जैन दर्शन में बन्धन के स्वरूप को स्पष्ट करे